भास्कर-वाणी

(विविध प्रवचन-संग्रह)

व्याख्याता —

पं० मुनिश्री सुशीलकुमार जी म० 'भास्कर'

प्रकाशकः—

सरदारमल कांकरिया

८७, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

प्रकाशक —

सरदारमल कांकरिया

८७, धर्मतल्ला स्ट्रीट

कलकत्ता

मूल्य

१।) रुपया

प्राप्ति स्थान :—

श्री जैन जवाहिर मित्र मंडल

ब्यावर (राज०)

मुद्रक :—

मेहता फाइन आर्ट प्रेस

२०, बालमुकुन्द मक्कर रोड

कलकत्ता-७

फोन—३४-१२४७

भूमिका

साधु समाज के पथ-प्रदर्शक होते हैं। विद्युत स्तभ के सदृश अज्ञानान्धकार में भ्रमित और पराभूत व्यक्तियों को वे अपने तपोमय जीवन और ज्ञान-ज्योति से सत्य मार्ग की ओर उन्मुख करते हैं। लोक-कल्याण की भावना से उनकी वाणी मुखरित होती है और कालान्तर मे वही मुखरित वाणी प्रवचन, व्याख्यान और सुभाषित बन जाती है। तत्त्व-चिन्तन और हृदय-मंथन से उद्‌भूत वाणी समाज के लिये अत्यन्त फलदायिनी होती है, चाहे वह तिक्त और कटु ही क्यों न हो ? प्रस्तुत वाणी सग्रह भी एक ऐसे मनीषी, चिन्तक एवं तत्वदर्शी मुनि का है, जो संकुचित परिधि में न बंध कर विस्तृत दृष्टि-कोण से सोचते हैं, व्यष्टि से समष्टि को महत्त्व देते है और जिनके हृदय में साम्प्रतिक स्थिति के लिये कसक और पीड़ा भी है। संग्रहित व्याख्यानों से यह बात स्पष्टतया प्रतिध्वनित होती है।

प्रस्तुत सग्रह में मुनि सुशीलकुमार जी भास्कर द्वारा विभिन्न स्थानों मे दिये गये प्रवचन हैं। अत इनमें एकरूपता और क्रम नहीं है परन्तु विविध विषयोंका विश्लेषण अच्छा हुआ है। तत्त्व के तह तक पहुचने का प्रयत्न है। साधारण जनता को गंभीर विषयों का विवेचन इतनी सुगमता से समझाना हरएक

के लिये संभव नहीं। यही एक प्रभावशाली व्याख्याता होने का प्रमाण है।

प्रस्तुत व्याख्यान संग्रह है, निबंध संग्रह नहीं। अतः बोलचाल की भाषा का प्रयोग है, इस दृष्टिकोण से यदि कहीं भाषा सम्बन्धी स्खलना है, वह स्वाभाविक है। कषाय, भजन, चारित्र-धर्म, जानेवालों से, विश्व का भविष्य, हिंसा-अहिंसा आदि व्याख्यान बहुत मर्मस्पर्शी तथा सचेतक हैं। भाषा प्रवाहपूर्ण, प्रांगल व ओजमय है।

इस प्रकाशन द्वारा सहस्रों व्यक्तियों में दी गई मुनिश्री की वाणी कोटि २ मानव समुदाय तक पहुंच सकेगी तथा इनके द्वारा किसी को भी यदि जीवन-निर्माण में प्रेरणा मिली तो वक्ता और प्रकाशक दोनों का श्रम सफल होगा।

२० बालमुकुन्द मक्कर रोड
कलकत्ता-७

—मदन कुमार मेहता

———

प्रकाशकीय

मुनि सुशीलकुमार जी म० भास्कर द्वारा समय २ पर दिये गये व्याख्यानों का "भास्कर-वाणी" के रूप में यह संग्रह प्रकाशित करते हुए हम अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव कर रहे हैं। मुनि सुशीलकुमार जी म० स्थानकवासी जैन श्रमण-संघ के एक प्रतिभाशाली विद्वान् व कर्तृत्वशील युवक मुनि हैं। आपमें कुछ करने की भावना तथा अदम्य उत्साह है। "सर्व धर्म-सम्मेलन" के रूप में आपने संसार के समस्त धर्मों के प्रति मैत्रीभाव का एक नवीन आदर्श उपस्थित किया है। देश के नेताओं तथा प्रमुख व्यक्तियोंने इस प्रयास का स्वागत किया है।

ग्रथित विविध विषयों पर दिये गये भाषणों के पढ़ते हुए हमें ऐसा प्रतिभासित होगा कि एक वस्तु को हम नवीन दृष्टि-कोण से परख रहे हैं। भाषा में ओज व प्रवाह है। यही वक्ता की विशेषता है।

आशा है समाज अधिकाधिक इन व्याख्यानो को पढ़ कर मुनिश्री की वाणी को हृदयंगम करेगा। समाज ने इस प्रकाशन के प्रति प्रेम और सहयोग प्रदर्शित किया तो हम अपने श्रम व प्रयास को सफल समझेंगे।

—सरदारमल कांकरिया

८७, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

विषय सूची

भास्कर-वाणी

: भजन :

भाइयों और बहनों !

यदि आपको भूख नहीं लगती, जिव्हा को स्वाद नहीं मालूम होता, तो आप और आपके परिवार वाले इसे बुरा समझेंगे, इसे रोग मानेंगे और आवश्यक उपचार की सम्मति देंगे। आपका भोजन शरीर को जीवित रखने के लिये आवश्यक है। इसी प्रकार मन और आत्मा की क्षुधा है। यदि आपको भजन की भूख नहीं लगती, आपका मन प्रभु के चरणों की शरण पाने को आकुल नहीं होता और आप अपने में ही डूबे हुए हैं तो आपको पेट की भूख न लगने के समान रोग कहा जायगा, भाइयों ! इसलिये भजन आवश्यक है।

इस हेतु कि आपका उत्थान, पतन, जीवन, मरण आदि सब आपकी भावना पर निर्भर है और भजन भावना को शुद्ध करता है।

विषधारी बिच्छु जब काटता है तब काटे हुए व्यक्ति की पीडा बिच्छू की गति के अनुरूप चलती है, चढ़ती घटती है। इसे कहेंगे आकर्षण का सिद्धान्त। भावना के आकर्षण के अनुरूप ही फल प्राप्त होंगे। अशुद्ध भावना अशुद्ध फलों को सामने लायेगी और शुद्ध भावनायें शुद्ध परिणाम देंगी।

आत्मा की उपेक्षा करके शरीर को टिकाए नहीं रख सकते। शरीर बलवान हो और आत्मा निर्बल हो तो जीवन नहीं चल सकता। स्वस्थ शरीर और निरोग आत्मा लेकर ही जीवन सफल हो सकता है। इसलिये आत्मा की स्वस्थता के लिये भजन की आवश्यकता बतलाई है।

आप जानते हैं कि गौ घास चर कर दूध देती है। घास में तो पानी है। घास का घी बना, परन्तु वैज्ञानिक घास में से दूध नहीं निकाल सके। दूध तो गाय का अपना प्रेम और अपनी भावना देती है। इस प्रकार शुद्ध भावना और शुद्ध भजन जीवन के दुग्ध को जन्म देगी। वह दुग्ध है आनन्द। जिसकी प्राप्ति के बाद कुछ पाना शेष नहीं रह जाता।

आज के मनुष्य की आत्मा की भूख खराब हो गई है। इसी से वह इतनी उलझनों और समस्याओं में फंसा है। जिस प्रकार भोजन सादा और सात्विक होना चाहिये, उसी प्रकार भजन भी सादा हो। गरिष्ट नहीं। गरिष्ट भजन वह है जिसमें आप प्रभु से विविध पदार्थ मांगते हैं और अपनी सारी जरूरतों की लिस्ट उसके सामने रख देते हैं। क्या यही भजन है ?

यदि आप इसी को भजन या प्रार्थना समझ बैठे हों तो अन्धकार में भटक रहे हैं। इसके अलावा जिस प्रकार केवल जीभ हिलाने से और दिन भर भोजन भोजन कहने से पेट नहीं भर जाता, उसी प्रकार केवल राम राम कह कर माला के मन के फेरने से राम नहीं मिल जाता। भावना और मन के योग की आवश्यकता है।

भोजन और भजन जिव्हा के द्वारा होता है। लेकिन भजन बाहर न कर आत्मा में पहुंचाना चाहिये। जिस प्रकार भोजन पेट में पहुंचाना आवश्यक होता है।

भजन को अपनी जरूरतों की सूची बना कर गरिए न बनाओ। वर्ना वह आपको पचेगा नहीं और अवलम्बन बन जायगा। आत्मा का आनन्द न होकर वाणी की बकवास हो जायगा। भजन आत्मा का संगीत है। जब मन और आत्मा समस्त इच्छाओं से परे आनन्द के हिल्लोल से तरंगित होती है तब भजन की उत्पति होती है। वह आत्म मस्ती की गूंज है।

भजन के पहले मन और वाणीका समन्वय होना आवश्यक है। क्योंकि वाणी का सम्बन्ध मन से, मन का आत्मा से और आत्मा का परमात्मा से है।

प्रार्थना अथवा भजन का उद्देश्य कुछ भी मांगना नहीं है। मांगने से कुछ नहीं मिलता उलटी भावनाएं अशुद्ध होती हैं।

संसार के सभी धर्मों में, सबकी प्रार्थनाओं में मांगा जाता है। लेकिन केवल जैन धर्म ही ऐसा है, जो अपनी प्रार्थना में मांगता नहीं। वह पुरुषार्थका प्रहरी है। आप यह समझ लीजिये कि भजन भीख नहीं है। संसार के पदार्थों को पाने की फरियाद नहीं है। वह आत्मा का सौंदर्य है, गीत है, जो आत्मा की पवित्रता और मुक्ति के लिये गाया जाता है। इसे आप अपनी जरूरतों में फसा कर बोझिल न बनाइये।

मुसलमानों में भी यह प्रथा है कि अपनी प्रार्थना में वे कुछ

चाहते हैं--मांगते हैं। नमाज के बाद रिजक 'रोटी' देनेको कहते हैं, मानो अल्ला ताला रसोई घर या ढाबा चला रहा हो। ईसाई भी आज़िज़ी पूर्वक कहते है 'अब हमें प्रार्थना में मत डालना!' इसी प्रकार कुछ हिन्दुओं की प्रार्थनाएं भी अपनी इच्छाओं की पूर्ति के निवेदनों से भरी पड़ी है। लेकिन जैनों में मांगा नहीं जाता। आत्माभिमान से लेकर, आत्म विश्वास लेकर चलने की सीख उसने दी। हमारी प्रार्थनाओं में आचार्य, सिद्ध, अनन्त बनने की, उनके समान बनने की भावना है। हमने अप्पा सो परमप्पा माना है।

वास्तव में प्रार्थना स्वयं से करना है। किसी दूसरे से नहीं करना है। क्योंकि जो परमात्मा पूर्ण है वह तो भाइयो, लेन देन का बिजनेस नही करता। वह क्या इन व्यवहारिक कार्यों में पड़ने आयगा। इसलिये वह किसी को कुछ देता लेता नहीं। जो अपूर्ण है वह किसीको क्या देगा। इसलिये प्रार्थना को मांगने की कला मत बनाओ। ऐसा करने पर आप भजन की वास्तविक भूमिका पर आ जायेंगे। जो अनन्त है, जो सिद्ध है, वह मैं हूं—जब आप ऐसा निश्चय कर चिन्तन करेंगे तो आप स्वयं भी वैसे बनेंगे। ऐसी प्रार्थना सांसारिक विश्वासों और स्थितियों से आपको ऊपर उठायेगी।

प्रार्थ्य को बड़ा मत समझो। प्रार्थी मत बनो। लोक व्यवहार में किसी को बड़ा मान कर सम्मान देना ठीक है, लेकिन बड़ा है इसलिये अपनी आत्मा को शूद्र मानना गलत है। यह

आत्म हनन हुआ। इसलिये व्यवहार में भले ही बडा समझो, निश्चय में नहीं। व्यवहार की कमजोरी प्रेरणा बनेगी। यदि आप ईश्वर को ईश्वर—महान-उन्नत समझ कर प्रार्थना करते रहें तो वह अनन्त ही रह जायगा और आप अन्त ही रह जायेंगे और मेल कभी न होगा। ईश्वर नहीं चाहता कि आप उसे अपने से दूर रखें या बडा समझें। वह तो आप है। यदि परमात्मा-परमात्मा बना रहे तो, उसका परमात्मापन नहीं।

यदि गुरू-गुरू बना रहे और विद्यार्थी को आजीवन मूर्ख विद्यार्थी बनाये रखे तो क्या विद्यार्थी का उद्धार संभव है? नहीं। इसी प्रकार भजन, चिन्तन, और श्रद्धा भावना के बल पर आपको ऊपर उठ कर परमात्मा बनना है।

चिन्तन कीजिये कि आपमें और शूद्रों में क्या अन्तर है? उनके गुणों से आपके गुण कम क्यों हैं! इसी भावनामय प्रभु के चिन्तन का नाम भजन है। ऊपर उठने, पाप से परे रहने के प्रयास का नाम चिन्तन है। चिन्तन, भजन या प्रार्थना कर्मकाण्ड में नहीं है।

अपने अन्तरतम को पहचानने की सफल वैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम है भजन। और अपने अन्तरतम में है क्या! परमात्मा उसी को पहचानना। उसी को प्राप्त करना।

उसके और अपने बीच की दूरीको खतम कर दीजिये। सारी विषमताएं समाप्त हो जायगी। समता स्थापित होगी। आखिर शास्त्रों में भी साम्य स्थिति को ही भजन की भूमिका बताया

हैं न ? साम्य अवस्था ही सामायिक है। अपने चिन्तन में सव प्राणी, भूत, जीवों को अपने समान समझो। जीव सिद्ध के समान है और सिद्ध जीवन के समान है।

शुद्ध चिन्तन से सारी चिन्ताएं दूर हो जायेंगी। मनुष्य का मनुष्यत्व उभर आयेगा। दृष्टि अन्तर्मुखी हो जायेगी और रास्ता साफ हो जायगा। जब मार्ग स्वच्छ है तो किसी के प्रति राग द्वेष, हिंसा न रह जायेगी। सभी से प्रेम होगा और जहां प्रेम होगा वहीं सब कुछ होगा। कुशल, क्षेम, नेम, सब प्रेम में रहते हैं।

अतएव प्रेम प्याला पीजिये—और प्रभु का भजन कीजिये।

———————

—: वाणी :—

भाइयों और बहनों !

मन के बाद है वाणी। मन जो कुछ सोचता है, समझता है और देखता है उसे वाणी के माध्यम द्वारा प्रकट करता है। वाणी मन के द्वारा संचालित होती है। अतएव मन शासक है वाणी शासित है। मन राजा है और वाणी उसकी प्रजा है।

यदि आपने मन, काया और वाणी को सम्भाल लिया तो आपका सब संभल गया और इनमें से एक भी बिखरा कि सब तमाशा बिखर गया। इनमें भी वाणी महत्वपूर्ण है।

मनुष्य जो कुछ सुनता है उस पर विचार करता है। वाणी जो सुनी और बोली जाती है, एक यन्त्र मात्र है। मस्तिष्क सुनी हुई बात पर विश्लेषण करता है, जब उसका विश्लेषण स्पष्ट हो जाता है, तो मन उसे स्वीकार कर लेता है। उसमें प्रेरणा उत्पन्न होती है। उत्तर में यह वाणी को मौन रहने का संकेत करता है, अथवा कुछ कहने को प्रेरित करता है।

सुना हुआ शब्द मनुष्य सीखता है और आरंभ में, वैसा ही बोलता है। शिशु को जैसे सम्पर्क में आप रखेंगे वह वैसा ही बनेगा। वैसे ही बोलेगा और वैसे ही टेक अपनायेगा। यदि बच्चे को गहन वन में छोड दें तो वह न बोलना सीखेगा, न विचार करना सीखेगा। अधिक से अधिक तो पशु की बोली

की नकल कर सकेगा। श्रुत के बिना जीवन बेकार है। वाणी अनुरूप और अनुकरण का प्रतिबिम्ब है और उसका विकाश और शुद्धि संगति निर्भर है।

कहा है:—कागो किसका धन हरै, कोयल किसको देय।
अमृतवाणी बोल के, जग अपना कर लेय॥

अमृत वाणी का अर्थ आपको इससे प्रतीत होगा कि वह सुननेवालों का मन अपने वश में कर लेती है। उसका विश्वास प्राप्त कर लेती है। कटु बोलने वालों को कहीं सम्मान नहीं होता। वह अपना और दूसरे का दोनों का अपमान, अहित और अकल्याण करता है।

आज तक जितने साधु-संत, तीर्थंकर हो गये हैं, वे सब वाणी ही दे गये हैं। ज्ञान, विज्ञान और मानव जीवन के विकास की जो संगठित राह हमें प्राप्त होती है, वह सब वाणीकी देन है। हमें अपने पूर्वजो एवं पूर्व ज्ञानियों से जो कुछ मिलता है, वाणी रूप में मिला है। जितना मन में है उतना वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। मन की भावना को वाणी द्वारा पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सकती। क्योंकि वाणी का अन्त है और मन अनन्त है। आत्मा अनन्तान्त है। भाषा वाणी के स्वरों को रूप नहीं दे सकती। वाणी से भी कम शक्ति लिखने की है। जो कुछ व्यक्ति कहना चाहता है, वह सब वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। आप जानते हैं कि यदि आप गुड की डली खायें और उसका स्वाद बतायें तो, मीठा है, बहुत मीठा है, इतना ही कह

सकेंगे, पर आपके मन में जितना आनन्द है, जो भावना आती है उसकी अभिव्यक्ति कैसे करेंगे।

इस प्रकार ग्रंथ भी कभी पूर्ण नहीं हो सकते, वे तो मनुष्य के ज्ञान प्रकाशन के माध्यम मात्र है। मनुष्य को पूर्णता की ओर प्रेरित करते हैं।

मन कामना शुद्ध है तो उसकी वाणी भी शुद्ध होगी। यदि मन अशुद्ध है तो वाणी भी अशुद्ध होगी। मनुष्य के मन की समस्त छायाओं का प्रभाव उसकी भावना और वाणी पर पड़ेगा और जो कुछ वह कहेगा, उसपर उस मन या भावना की परछाई रहेगी। वाणी से मनुष्य की अच्छाई या बुराई पहचानी जा सकती है। यह जाना जा सकता है कि ऊपरी आवरणों के नीचे इसमें क्या छिपा है! वाणी का प्रभाव अचूक है।

आज आप जानते हैं कि मंत्र क्या है। मंत्र की शक्ति कितनी प्रबल होती है। मंत्र का मतलब किसी जादू से न लेकर उसके प्रभाव से लीजिये। मन्त्र का अर्थ वाणी से अधिक और कुछ नहीं। आपका जीवन वाणी पर आश्रित है। यदि आपकी वाणी जीवित है, तो आप जीवित हैं और यदि वाणी मृत है तो आप मृत हैं। यदि वाणी अबल है तो आप अबल हैं। वाणी मनकी कमजोरी और सबलता का परिचय दे देती है।

आज और कल के नेता, जितने हुए और हैं, वाणी के द्वारा बड़े बने हैं। सिवाय वाणी के उनके पास क्या है? कर्म और

आचरण तो बाद में आते हैं। वाणी का एक शब्द प्रजा, राज्य और देश देशान्तरों में हलचल मचा देता है। युद्ध और संधियां मेल और कलह सभी वाणीके द्वारा उत्पन्न होते हैं। शब्द ही आग लगा सकता है और शब्द ही जल के छींटे उस पर डाल सकता है। शब्द बिजली और बर्फ है। शब्द विष और अमृत है। शब्द ज़िन्दगी और मौत है। इसलिये शब्द को सोच विचार कर काम में लाइये।

पांडवों और कौरवों के साधारण झगड़े ने महाभारत खड़ा कर दिया, कोटि कोटि वीरों की जानें गईं। देश बरबाद हो गया और श्मशान बन गया। केवल द्रौपदी के इतना ही कहने पर कि 'अन्धेके बेटे भी अन्धे होते हैं', सारा भारत सुलग उठा। एक ओर ग्यारह अक्षौहिणी तथा दूसरी ओर अठारह अक्षौहिणी सेनाएं कट मरी।

शब्द को तोल कर उसका मोल कीजिये। शब्द बाण की तरह है। मुंह के तर्कस से उसको सम्भाल कर, जान मान कर विचार रूपी शासन की आज्ञा पर निकालिये, वरना एक बार निकले बाण की तरह, एक बार निकला शब्द वापस नहीं आयेगा और आपको आजन्म पछताना पड़ेगा।

भगवान महावीर ने वाणी को तप बतलाया है। जिसका वचन अपने वश में नहीं उसका मन वश में नहीं और जिसका मन चंचल है, रोग ग्रस्त है वह विकास और मोक्ष की कामना तथा साधना कैसे कर सकता है। वाणी विभिन्न स्थानों से

आती है। उसके उद्गम और विलय स्थानों में भेद है। वह मन से उठ रही है, आत्मा से उठ रही है, मस्तिष्क से उठ रही है अथवा कोरि लफ्फाजी या वाचालता है, व्यक्ति की अपनी अवस्था पर निर्भर है।

भाइयों, आप जानते हैं कि मनुष्य और पशु दोनों हैं। मनुष्य ही हो और पशु न हो तो मनुष्य जीवित नहीं रह सकता लेकिन पशु, विना मनुष्य के जीवित रह सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि कौन अधिक उपयोगी है। पशु कभी अप्रिय वचन नहीं वोलता, पर आदमी तो नित्य वोलता है।

वाणी का प्रभाव स्थायी है। यदि एक व्यक्ति के दिल में किसीके वोल चुभ जाते हैं तो पीढ़ियों तक उनका विष नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार मधुर वचन हैं जिनका प्रभाव अमिट होता है। भगवान महावीर को हुए २५०० वर्ष व्यतीत हो गये, पर उनकी अमृत वाणी को पान कर आज भी मानव जीवन धन्य हो रहा है। फर्ज कीजिये महावीरने अहिंसा की वाणी न वोली होती तो अन्धकार न छा जाता? याज्ञिक हिंसावादी जातियां मनुष्यता को न जाने कहां ले जातीं!

शब्द तारता है और शब्द ही मारता है। आदि कवि वाल्मीकि ने व्याध से यही कहा था, हे निषाद—

रक्खो या मारो—इन छोटे से दो शब्दों में कितनी ताकत है।

श्रुत पर कर्म भावना, आचरण और मोक्ष निर्भर है, इस-

लिये स्वाध्याय का महत्व बतलाया गया। श्रुत न होने पर धर्म कहाँ टिकेगा ? जब धर्म को टिकने की जगह न मिली तो आप कहाँ टिकेंगे ?

वाणी का महत्व, उसका उपयोग तथा नियन्त्रण समझ जाइये और तदनुसार अमल कीजिये।

वाणी सम्प्रदाय बनाती है। धर्म और शास्त्रों की रचना करती है। उनका विध्वंश और नाश करती है। मनुष्य जो कुछ करता है सब वाणी करती है। वाणी कुछ न करे तो मनुष्य कुछ न करें।

इस वाणीके पीछे विश्वास की जोत जलाना चाहिये। इसके आगे सत्य का प्रकाश चाहिये। वरना वाणी अन्धकार में भट-केगी और भटकायेगी, इसलिये वाणी को विवेक की पटरी पर चलना है। अविवेक और अज्ञान की पटरी पर चल कर वाणी असुरों और संहारकों की शक्ति बनती है।

इसलिये यह बोली जाने वाली वाणी या भाषा निर्वध्य हो, मधुर हो, मधुर नहीं मधुरतम हो। भगवान महावीर कैसी मधुरतम भाषा बोलते थे। ऐसी कि जिससे सुनने वाले का मार्ग स्पष्ट और साफ हो। उसमें आत्म विश्वास हो तथा उसकी निराशा नष्ट हो।

वाणी रूपी तलवार गहरी चोट करती है। यह रक्षक और भक्षक है. दुधारी है, इसे देख कर चलाओ। अतः भगवान ने कहा है कि रक्षामय, हितकारी, शुभवचन बोलना भी पुण्य है।

पुण्य प्राप्ति का कितना सरल, सहज और तत्काल फल देनेवाला मार्ग बताया है। मधुरतम बोलो एवं निर्वद्य बोलो।

जिस प्रकार आप वस्त्र धारण करते हैं, उस प्रकार वाणी भी परिवेष पहनती है। वाणी का वस्त्र माधुर्य है। मन उसका पति है। देवता के सन्मुख अशुद्ध, अपावन एवं अहितकर वचन नहीं बोला जा सकता। जब तक वाणी का तप नहीं है, कोई भी व्रत पूरा नहीं है। व्यक्ति का व्यक्तिपन एवं साधुता वाणी से प्रकट होती है, वस्त्रों से नहीं। बाहरी कर्मकाण्ड एव स्वरूप से नहीं। वाणी को सम्पूर्ण हृदय की स्वच्छता का सहयोग मिलना चाहिये।

भगवान महावीर की वाणी से गौतम प्रभावित होकर शिष्य बन गये। नेता वाणी से बनते हैं। तलवार लेकर चलने वाला हिंसक विजेता है। वाणी का रस लेकर चलने वाला विजेता अहिंसक विजेता है। एक घात करता है और मौत उसके आसपास, चारों ओर मण्डराती है। जिधर जाता है मौत लेकर जाता है। दूसरा जीवन और अमृत का दाता है। जिधर उसके पांव पड़ते हैं, जीवन कमल खिल उठते हैं। उसकी वाणी सुनकर मुर्दों में प्राण लौट आते हैं। मनुष्य के मन में पैठने की कोई राह नहीं है, लेकिन वाणी वह राह है जो सीधे मनुष्य के मन तक आपको पहुचा देती है। आप उसका विश्वास पा सकते हैं।

यदि आप दो चीजें भूल जायें और दो चीजें याद रखें तो

आपकी मुक्ति निश्चित है। जरा ध्यान से सुनिये। भजन और मृत्यु को स्मरण रखें। प्रभु के चरणों में निरन्तर ध्यान रखें। मौत आने वाली है और हमें संसार से एक न एक दिन, देर-अबेर जाना है, यह न भूले। और भूल जांय कि किसीने आपके साथ बुराई की है। बुराई करनी तो ठीक, अपने प्रति की गई बुराई को सोचने का भी फल बुरा होता है। आपने कोई भलाई की हो तो उसे भी भूल जायं।

वाणी सत्य की साधिका है। मिथ्यात्व उसका साधन नहीं होना चाहिये वरना सिद्धी नही मिलेगी। वाणी का विकास आत्म विकास में परिणित होगा, इसलिये वह आवश्यक है। चाहे सत्य हो या रहस्यमय हो, भाषण कटु साध्य न हो।असत्य और अप्रिय लगे—ऐसी वाणी न बोली जाय, जिससे दूसरों का हित हो ऐसी निर्वध्य भाषा बोलें। वाणी—बोल तो परमाणु हैं। आप परमाणुओं और प्रदेशों के समूह हैं। अपने भीतर रुग्ण परमाणुओं का प्रवेश मत होने दीजिये, न अपने अन्दर से रुग्ण परमाणु बाहर जगत में फैलाने का पापभार लीजिये। वाणी पवित्र है तो आपका जीवन पवित्र है। जीवन मन पर आश्रित है और वाणी भी मन पर आश्रित है। मन और उसकी पत्नी वाणी मिल कर मेल या विग्रह कराते हैं। उन पर अंकुश रखिये और सत्य मार्ग ग्रहण कीजिये, तभी आप मन, वचन और कर्म से पवित्र हो सकेंगे। पवित्रता साधन ही मुक्ति के प्रासाद का प्रथम सोपान है।

————

—: सच्चा विनोद :—

भाइयों और बहनों !

मैं जिस प्लेटफार्म पर बोल रहा हूं, वह सेवा समाज का है। सेवा के नाम पर जिन व्यक्तियों को एकत्र किया गया है, यह सब उन्हींकी ओर से है। हम सेवा के साथ विनोद को मिला देना चाहते है। सेवा में सुख मानने वाले सच्चे विनोदी बन सकते हैं।

एक कवि कहता है—यदि आप हंसते है, तो सारी दुनियां आपके साथ हंसती है और आप रोते हैं तो अकेले रोते हैं। रोने वाले का कोई साथ नहीं देता। मनुष्य के लिये प्रेम हास्य अत्यन्त आवश्यक है।

कवि बायरन की एक पंक्ति है—यदि मैं किसी भौतिक वस्तु पर हसता हू तो इसलिये कि उसके जाने पर मैं रोऊ नहीं।

हास्य और विनोद के अनेक साधन आपको मिलेंगे। बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी विनोद में भाग ले सकते हैं। विनोद के लिये आयुकी सीमा नहां है। आप जानते हैं कि जार्ज बर्नार्डशा कितने विनोदप्रिय थे। और गांधीजी के तरल हास्य तथा सरल विनोद से आप सब परिचित हैं।

जीवन के तत्व हैं—उत्साह और प्रगति। उनमें भी विनोद

का होना आवश्यक है। विनोद के विना व्यक्ति निरा कंकाल रहता है। आज हममें कमी है तो वास्तविक विनोद की।

अब जरा गौर से देखें। हम व्यवस्थाओं के पीछे अपने आपको बेच चुके हैं। कुर्सी पर बैठना आप अच्छा समझते हैं, पर कुर्सी बनाने वाले को नीचा समझते हैं और उसके कार्यको नीच मानते हैं। इसी प्रकार धोबी, चमार, बढ़ई आदि को आप बुरा समझते हैं। सफाई और पवित्रता के साथ साथ सफाई और पवित्रता लाने वाले को भी अच्छा समझना चाहिये।

क्योंकि किसीके प्रति दुर्व्यवहार रख कर हम विनोदी नहीं बन सकते। समता को विषमता में बदल देने से विनोद का अन्त हो जायगा।

विनोद कई प्रकार के हैं। यों समझिये कि जितने व्यक्ति उतने विनोद। साधु, बच्चा, वैरागी, संत, राजा महाराजा और मजदूर के विनोद में पर्याप्त अन्तर है।

प्रेमपूर्ण परिश्रम भी विनोद बन जाता है। विनोद मनुष्य जीवन के लिये आवश्यक है। बचपन से बुढ़ापा आता है और यदि बुढ़ापे से बचपन आ जाय तो आदमी भगवान बन जाय। अतएव मैं आप लोगों से कहता हूं कि अपने बच्चों को बूढ़ा न बनाइये। उनपर भविष्य निर्भर है और वे भविष्य पर निर्भर है एवं भविष्य विनोद पर निर्भर है। इसलिये विनोद का पान कीजिये। विनोद का नशा ही आपको आनन्द देगा, शराब का नशा नहीं। शराब का नशा तो उतर जाता है, पर आनन्द का परमानन्द नशा कभी नहीं उतरता।

अंग्रेज कवि शैली कहता है:—I have drunken deep of joy, and I will taste no other wine to night. (The Censi)

अब मैं आपके सामने तीन प्रकार के विनोद रखता हू।

१—शारीरिक विनोद

२—मानसिक विनोद

३—आध्यात्मिक विनोद

आप इन तीनों मेंसे चुन लीजिये। शरीर का विनोद चुनने से पहिले सोच लीजिये कि आप किसी दूसरे के शरीर को चोट तो नहीं पहुंचा रहे हैं और मन के विनोद के द्वारा दूसरे के मन को तो नहीं मार रहे हो। इसलिये विनोद का मार्ग सहज सरल नहीं है। सोच विचार कर आपको इसपर चलना पड़ेगा कि कहीं विनोद में निकला आपके मुख का कोई कटु शब्द दूसरे के हृदय में घाव तो नहीं बना देगा। सच्चा विनोद आत्मा से प्रगट होता है। सच्चा विनोद अन्तर्नाद है। जब मनुष्य चिन्ताओं को छोड़ कर आगे बढ़ता है तब उसके मानस-सरोवर में विनोद का कमल खिलता है। विनोद तभी सच्चा है जब वह सबके लिये समान रूप से उपयोगी है। सबके काम आता है। हंसाने वाला और हंसने वाला दोनों जिससे प्रसन्न हों। ऐसा नहीं कि विनोद प्रिय हंसोड तो हसता रहे और दूसरा साथी रोने लग जाय। ऐसे विभत्स विनोद की समाज में आवश्यकता नहीं। इसलिये मेरा कहना है कि विनोद

आध्यात्मिक होगा, तभी वह लोक सुख का, आनन्द और कल्याण का कारण बनेगा।

इसके पहले कि मैं आध्यात्मिक सुख और विनोद के क्षेत्र में आपको ले जाऊं, मैं आपको एक विनोद कथा सुनाऊं जो सुधारकों और समाज सेवकों के लिये बड़ी स्मरणीय है। रोहतक की बात है। एक नन्हीं आठ वर्षीया बालिका का विवाह हो रहा था, रात में लग्न वेला पर लड़की विवाह मंडप में ऊंघ गई। उसकी मां ने जगा कर कहा कि बेटी विवाह के फेरे ले ले। लड़की उनींदे स्वर में कहती है, मां तू ही ले ले, मुझे नींद आ रही है। यह है हमारे समाज की दुर्दशा। जीवन का कितना गहारा व्यंग इस बालिका की दुखद कथा में भरा है, आप सोच सकते हैं। यहां विनोद तो है ही, हमें शिक्षा भी मिलती है।

अब आइये आध्यात्मिक विनोद जगत की ओर। यह तो एक दूसरी ही दुनियां है। यहाँ आपको उस सांसारिक शिकारी का विनोद नहीं मिलेगा, जो पंछी और पशुओं को तड़पा तड़पा कर मारने में अपने विनोद की पूर्ति पाता है।

यहाँ तो पहले सामनेवाले का ध्यान रखा जाता है। स्वयं आनन्द की हंसी प्राप्त करें और दूसरों को भी उसे परितृप्त करें। यह तो "लव इज़ गॉड एण्ड गॉड इज़ लव" का अमर सिद्धान्त चल रहा है।

प्रेम हरि का रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप,
एक होय है यों लसे, ज्यों सूरज अरु धूप।

इस परमानन्द को प्राप्त कर भक्त और भगवान एक हो जाते हैं।

प्रेमानन्द की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त होते ही आरम्भ की दशा नहीं रहती और दो मिल कर एक हो जाते हैं। फिर कौन विनोद की ओर और कौन विनोद सुनने वाला, फिर तो मात्र विनोद ही रह जाता है। यह है आध्यात्मिक विनोद की एक झलक। भक्त और भगवान का विनोद।

यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।

वैष्णव कवि अपनी भक्ति के आनन्द में विनोदपूर्ण क्रीडा-स्थली का वर्णन करता है.—

अखिल विश्व है एक तत्व का, दिव्य रूप अभिराम।
भेदभाव का हो अभाव तो, घट घट में घनश्याम॥
पग पग पर प्रिय पुण्य भूमि है, बात बात में वेद।
जन जन जग में दिव्य देवता, रोम रोम में राम॥

एक तत्व का अभिराम रूप है यह विश्व। भेदभाव न हो तो घनश्याम कितने सुलभ हो जांय? यह है सन्तों, महन्तों और अर्हन्तो का विनोद स्थल! निष्काम कर्म करने वाले कितने और निस्वार्थ स्नेह मानने वाले कितने?

चहन हारे सुख सम्पति के, जग में मिलते घनेरे।
कोई एक मिलत कहु प्रेमी, नगर वगर सब हेरे।

यह तो दृष्ट विनोद है, एक प्रकार का। दूसरे प्रकार का

विनोद 'शिकारी और शिकार वाला' में आपको बता चुका हूं। वह है निकृष्ट विनोद। आप निकृष्ट विनोद की ओर न जाइये।

महावीर स्वामी का विनोद इष्ट विनोद था। राजा सत्य हरिश्चन्द्र का विनोद भी इष्ट विनोद था। एक ने मानव जाति में मिल रहे पशुत्व को, हिंसा को दूर किया, दूसरे ने सत्य को अपना खेल बनाया। हंसते हंसते हरिश्चन्द्र ने चण्डाल के घर बिक जाना पसन्द किया, पर अपने सत्य को न छोड़ा।

अहं और पाप त्यागने का विनोद आप अपनाइये।

जहां आपा तंह आपदा, जहां संसय तंह सोग,
यह आपा तूं डारिदे, दया करे सब लोग।

दूसरे सन्त ने कहा है:—

आपा मेटो हरि भजो, तनमन तजो विकार।
निर्वैरि सब जीव सो दादु यह मतो सार॥

भाइयों, जैसा जैसा व्यक्ति है, वैसा वैसा उसका विनोद है। पिता पुत्र का, भाई भाई का, गुरू शिष्य का, भक्त भगवान का विनोद अलग अलग है। जरा गुरु का खेल देखिये—

गुरू धोबी शिष्य कपड़ा, साबन सरिजन हार।
सुरत शिला पर सोइये, निकसे मैल अपार॥

और —

"डूबे सो बोले नहीं, बोले सो अनजान,
गहरो प्रेम समुद्र को, डूबे चतुर सुजान॥"

"वो बाबल है, अपने अहं को सिर पर लपेटे घूम रहा है।

वह प्रेम सागर की गहराई को नहीं जानता है। जिसे भान है वहाँ गहनता को प्राप्त है।"

तो मैंने आपको विनोद के विविध रूप दर्शाए हैं। उनके दो भाग कर सकते हैं, प्राचीन और अर्वाचीन। प्राचीन विनोद में सत्य, अहिंसा, प्रेम, आज्ञा-पालन आदि थे। नवीन—आज के विनोद में, प्रेम शायद नहीं, सत्य भी नहीं, अहिंसा के स्थान पर हिंसा है। यदि सच्चा विनोद है मनुष्य में तो वह जीवित रहेगा, अन्यथा उसकी दशा इस प्रकार की हो जायगी—

"निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः।
सर्वार्था व्यसिदन्ति व्यसनात् अनुगच्छति॥"

अतएव आपके संस्कारों का, स्नेह का, सेवा और सधर्म का विनोद होना चाहिये। सच्चा विनोद यही है। इससे आपके मन, आत्मा और मस्तिष्क को शक्ति और शान्ति मिलेगी।

कर्मशील, परिश्रमी व्यक्ति यदि अपना सच्चा विनोद नहीं बनाते तो उन्हें कब्र में जाकर आराम करना चाहिये।

———————

: क्रोध :

भाइयों और बहनों !

एक अंग्रेज कवि ने कहा है —

I was angry with my friend,
I told my wrath, my wrath did end
I was angry with my foe
I told it not, my wrath did grow

अर्थात् मैं अपने मित्र से रुष्ट और क्रुद्ध था। मैंने उसे अपना गुस्सा जतला दिया, परिणाम में मेरा क्रोध दूर हो गया। मैं अपने शत्रु पर क्रुद्ध था, मैंने उसे अपना क्रोध नहीं जतलाया, मेरा क्रोध बढ़ता रहा।

क्रोध से सबको हानि होती है। जिस पर किया जाता है उसे, और जो करता है वह भी हानि उठाता है।

चार कषायः—लोभ, मोह, काम, क्रोध पाप के मूल हैं। अनेक प्रकार के कष्ट इनसे उत्पन्न होते हैं।

कोहो पीई पणासेई।

क्रोध प्रीति का नाश करता है। क्रोध से हिंसा आदि दुर्गुणों की उत्पत्ति होती है।

जहां स्वार्थ है, जहां अहं है और जो व्यक्ति तथा राष्ट्र अपने अपने लोभ में डुबे हुए हैं, वहीं क्रोधकी उत्पत्ति होती है। राष्ट्रों

के विषय क्रोध में पलट जाते हैं और ऐसे क्रोध युद्धों को जन्म देते हैं। इस प्रकार क्रोध मानवता के विध्वंस का कारण बन जाता है। स्वार्थ-लिप्सा आज के मनुष्य की सबसे बड़ी बुराई है। इसीके पेट में अनेक प्रकार के प्रपंच खड़े हो रहे है। जब तक यह जीती रहेगी आपका खून पीती रहेगी। भाईयों! स्वार्थ को अपने सम्बन्धियों, मित्रों के खून से न पालिये, क्रोध को दूर कीजिये, इसे दूर करने का उपाय सन्तों ने इस प्रकार कहा है:--

उवसमेण हणे कोहं

शान्ति भाव क्रोध को हटा देता है। इसलिये शान्ति को धारण कीजिये। शान्ति की भावनाका प्रभाव तत्काल होता है। वह विरोधी को भी विचार करने पर वाध्य कर देती है और वह वश में हो जाता है।

क्लेश, वार्तालाप में वाक्युद्ध, वादविवाद आदि क्रोध को जन्म देते हैं, अतएव उनसे दूर रहना चाहिये।

एक धोबी और एक साधु महाराज में बात बढ़ते बढ़ते बिगड गई। दोनों महा क्रोध के वश में हो परस्पर गालियां देने लगे। इतने में एक सज्जन, जो वहां खड़ा तन्मयता पूर्वक सब दृश्य देख रहा था, पंडित से पूछा—महाराज ये क्यों लड़ रहे हैं? ये कौन है? पंडितने उत्तर दिया—इनमें एक साधु और एक धोबी है। परन्तु इस समय यह पहचानना कठिन है कि इनमे कौन साधु और कौन धोबी है। दोनों ही धोबी नजर आ

आ रहे हैं। भला इनमें से एक साधु होता तो लड़ाई कैसे होती ?

यह है क्रोध का परिणाम; व्यक्ति का स्वरूप पलट देता है। बुद्धि भ्रष्ट कर देता है। क्रुद्ध व्यक्ति न तो अपने को पहचानता है, न सामने वाले को ही पहचान सकता है। उसकी बुद्धि पर विनाश का पर्दा पड जाता है।

क्रुद्ध व्यक्ति प्रतिशोध चाहता है। प्रतिशोध की भावना मनुष्य की पाशविकता की हद है। उस नीचाई पर जाकर उबरना बहुत कम आदमियों को नसीब होता है। अतः क्रोध और बदले की भावना से बचते रहो।

इनके विपरीत है—प्रेम और क्षमा। प्रेम उन सभी घावों को पूर देता है, जो क्रोध के सामने वाले के दिल ने बनाये हैं। प्रेम स्वय महा औषध है, उसके जलका एक बिन्दु पडते आत्मा शान्ति पाता है। क्षमा उसकी सगिनी है। अपने शत्रु और अहितैषी के प्रति भी निरन्तर क्षमा भाव रखना साधु पुरुषों का काम है।

ईसा की एक ज्ञान वाणी है कि यदि कोई तुम्हारे दायें गाल पर चपत लगाये तो बायां गाल भी उसके आगे कर दो। यह क्षमा और अगम सहनशीलता की भावना, जो क्रोध से उबार पर आये मानव के मन को शान्त कर देती है।

आपको भृगु की वह कथा याद होगी जब उसने विष्णु की छाती पर क्रोध पूर्वक लात मारी थी। विष्णु ने अत्यन्त प्रेम

व विनम्रतापूर्वक कहा— महाराज आपके पैर में चोट तो नहीं आ गई। मेरी छाती तो वज्र से भी कठोर है, और यह कह कर वे भृगु के पैर दबाने लगे।

यह है सहनशीलता और विवेक भावना। यह मोक्षदायी भावना है। जिनमें यह है, उसके पास सब कुछ है। जिनका मन अपने वश मे है, ऐसे मनुष्य इसी भावना के बल निश्चिंत हो विचरण करते हैं।

न हु मुणी कोवपरा हवन्ति!

आत्मार्थी मुनि कभी क्रोध नहीं करते। जो संयमी हैं, वे कषाय भाव से सदैव दूर रहते हैं।

क्रोध दो प्रकार का कहा गया है —आत्मा-प्रतिष्ठित और पर-प्रतिष्ठित। जिस व्यक्ति का स्वभाव ही क्रोधमय हो उसमें उत्पन्न होनेवाला क्रोध आत्म-प्रतिष्ठित कहलाता है। ऐसे व्यक्तियों का स्वभाव साप जैसा कहा जायगा।

बाह्य कारणों से जो क्रोध उत्पन्न होता है वह पर-प्रतिष्ठित है।

दोनों प्रकार के क्रोध बुरे हैं। दोनो से आप दूर रह कर अपनी आत्मा और स्वभाव की रक्षा कीजिये।

क्रोध अच्छा है तो क्रोध पर क्रोध करना। क्रोध को वश में कीजिये। उस पर अप्रसन्न होइये। क्षमा रखना उत्तम है परन्तु अपने क्रोधी स्वभाव के प्रति क्षमा रखना अच्छा नहीं।

आप महर्षि दुर्वासा के स्वभाव के विषय में जानते होंगे,

परम क्रोध स्वभाव था उनका। न जाने क्यों फिर भी वे महर्षि कहलाये। बेचारी शकुन्तला की कितनी दुर्गति की उन्होंने! अपनी फुलवारी मे वह अपने प्रिय दुष्यन्त के ध्यान में मग्न थी कि महर्षि दुर्वासा जा पहुंचे, शकुन्तला उनका स्वागत न कर सकी, मुनि ने शाप दिया—जा तू जिसके ध्यान में मुझे न देख सकी, वह तुझे पहचानेगा नहीं।

क्रोध बुद्धि का सबसे बडा शत्रु है; अतः मानवता, प्रेम और क्षमा का भी शत्रु है।

क्रोध ने आज तक समस्त युद्धों और अन्यायों की रचना की है। आप ससार के समस्त ग्रंथ देख जाइये। जितने कलह, द्वेष, युद्ध, सधि-भग हुए है, सब क्रोध के कारण। पौराणिक पुरुषों के क्रोध की कहानी पुरानी पड गई हो तो नये महा-पुरुषो को क्रोध कथाए पढ़िये, हिटलर का क्रोध तो जग-जाहिर है।

एक बार की बात है कि हिटलर एक होटल से निकला, किसी बात पर अन्य व्यक्ति जो वहा उपस्थित थे, हंस पड़े, हिटलरने समझा कि मुझपर व्यगपूर्वक हंसे हैं। उसने तोप से उस सारे होटल को उडा दिया।

यह है अन्याय और पाशाविकता का जनक क्रोध। क्षमा भावना का काम नहीं, व्यक्ति मदान्ध हो देश-काल का अस्तित्व भूल जाता है।

क्रोध आदमी के भोजन को विष बना देता है। उसके भोजन को विकृत कर देता है।

घर में क्रोध से जब आग लग जाती है, तो उसे बुझाना मुश्किल हो जाता है। दुनिया में जब क्रोध की आग लग जाती है तो बड़े-बड़े राष्ट्र स्वाहा हो जाते है। व्यक्ति के मन की शान्ति भंग हो जाती है। पारस्परिक सम्बन्धों की मधुरता नष्ट हो जाती है। देशो के व्यावहारिक सम्बन्ध भंग हो जाते हैं।

इस क्रोध ने मनुष्य को मनुष्य नही रहने दिया। राक्षस तक की मृत्यु का कारण बना। देवताओं को अपने आसन से भ्रष्ट किया और मुनियों का पतन रूप बना।

मनुष्य के साथ उसका स्वभाव और उसके स्वभाव के साथ क्रोध जन्मा। पुराणों में क्रोध की उत्पत्ति का दृष्टान्त है। मनुष्य ने अग्नि को भस्मक समझ कर उसका तिरस्कार किया। अग्नि ने शाप दिया कि मैं तुझे आजीवन जलाती रहूंगी। वह अग्नि अनेक प्रकार से आदमी को भस्म करती है, उसमे से एक प्रकार की अग्नि क्रोध भी है।

मनोवृत्ति की विकृति क्रोध में परिणत होती है। यदि मनोवृत्ति को क्रोधोन्मुख न होने देंगे तो क्रोध से आप बचे रहेंगे। किन्तु मानव-प्रकृति ऊष्णता को प्रेरित करती है; क्योंकि ऊष्णता से देह टीकी है।

साधारणतया क्रोध चार भागों मे विभक्त है। अनन्तानु-बन्ध—जैसे पत्थर पर लकीर खींच दी हो। पत्थर की लकीर कभी मिटती नहीं। ऐसा क्रोध भी जिन घरों में होता है वहां पारस्परिक फूट और द्वेष कभी नहीं मिटता। दूसरा है

अपत्या—जैसे दीवार पर खींची लकीर साधारण परिवर्तन पर मिट जाती है। तीसरा—प्रत्याखानी क्रोध—जैसे मिट्टी पर कोई लकीर खिन्च दे, आंधी आती है और वह लकीर मिट जाती है। चौथा साधारण क्रोध कहा गया है। इसका उदाहरण पानी मे खिची लकीर से दिया जा सकता है। लकीर साथ ही वनती और मिट जाती है, ऐसा क्रोध पलभर में उड़ता चला जाता है।

ऐसा यह क्रोध है क्या? आज तक जिससे कोई वच न सका!

आपके चारों ओर वायु-मण्डल परमाणुओं से पूर्ण है। अनेक प्रकार के वक्र, सीधे, कोमल, कठोर, ऊष्ण, शीतल आदि परमाणु भरे पडे हैं। जैसे जैसे आपके मन की गति एवं वृत्ति होती है वैसे २ उन परमाणुओं की प्राप्ति आपको होती है। जिस प्रकार रेडियो सेट पर लगी हुई सुई का स्थान परिवर्तन कर देने पर इच्छानुसार वाणी के परमाणु पकड़े जा सकते हैं। और एक ही कमरे में अनेक रेडियो अलग अलग स्थानों के ब्राडकास्ट की तरंगे पकड़ सकते हैं, उसी प्रकार अलग अलग मनुष्य यदि एक ही कमरे मे वैठे हों तो वे अपनी अपनी वृत्ति अनुसार तरंगे एवं परमाणु प्राप्त करते हैं. इसलिये आपको अपनी वृतियों पर, भावनाओं पर अकुश रखना है। आप जैसे मनोभाव जगायेंगे, वैसे ही परमाणु पायेंगे।

क्रोध की वृति उत्साह की दशा से आरम्भ होती है। यदि यह उत्साह विकृत हो जाता है तो क्रोध में पलट जाता है।

क्रोध साहस तक ही सीमित रहना चाहिये। उसका उद्दण्ड उफान विनाशकारी है। क्रोध आत्मा को दवा न दे। आत्मा उसपर शासन करे, वह आत्मा पर शासन न करे। यदि ऐसा हो गया तो आत्मा का पतन हो जायगा। इसलिये क्रोध का विकृत रूप विनाश एवं संस्कृत रूप साहस एवं उत्साह है। यदि उसमें घृणा आ मिले तो वह पापमय संहारक वन जाता है।

लेकिन विनाशात्मक संहार मृत्यु, घृणा और द्वेष तो मनुष्य की किसी समस्या का हल नहीं कर सकते! मृत्यु से मनुष्य के किसी प्रश्न का हल नहीं हो सकता।

इसलिये मृत्यु और विनाश से दूर ले जाकर आप अपने क्रोध को शान्त कर दीजिये। शान्ति के जल से क्रोध की अग्नि शान्त हो जाती है। क्रोध को बढ़ाने का मौका देकर उसकी ज्वाला में इंधन न डालिये। क्रोध को प्रेम से जीत लीजिये। प्रेम ज्यों ज्यों बढ़ता जायगा, क्रोध कम होता जायगा। क्रोध को छोटा कर देने ही से आपको उससे मुक्ति मिल सकेगी।

आप पूछेंगे प्रेम और शान्ति के अतिरिक्त व्यक्तिगत दैनिक क्रोध से छूटने का उपाय क्या है? इसके उत्तर में ईरान के क्रोधी राजा की कथा सुनिये। राजा बड़ा उदार, दयालु, नेक भला था, किन्तु जब उसे क्रोध आ जाता था तो पशुओं और पिशाचों से भी बदतर बन जाता था। बड़ी कठिनाई के साथ उसकी रानी ने एक संत से उपाय प्राप्त किया कि जब तेरा पति क्रुद्ध हो तो उसके सन्मुख शीशा धर देना।

रानी ने ऐसा ही किया। राजा को दर्पण में अपना रौद्र रूप देख कर सद्बुद्धि उत्पन्न हुई। भाइयों! कोई भी आदमी अपना चेहरा विकृत नहीं देखना चाहता। सुकृत पुण्य कार्यों से ही विकृति नहीं आयेगी। यदि आप बुरे प्रपंचों में फसे रहेंगे तो आप चाहे कितना छिपाएं आपके चेहरे पर विकृति की झलक आये बिना न रहेगी। सरलता और कुटिलता आदमी के दिल से निकल कर चेहरे पर झलकता है। इसलिये सोच-विचार और प्रेम-शान्ति से क्रोध को अपने वश में कीजिये। जो पाप का मूल है उसे अपने हृदयोद्यान मे क्यों बो रहे हो? उसपर कांटे उगेंगे और विष के फल लगेंगे। हृदय को प्रेम की फुलवारी बनाइये और गाइये.—

यह मीठा प्रेम पियाला,
कोई पियेगा किस्मत वाला!

— — — —

: कषाय :

भाइयों और बहनों!

मानव-जीवन अमूल्य है और यह बार-बार नहीं मिलता है। इस सत्य को मैंने और हमारे सन्तों तथा साधकों ने अनेक अवसर पर जोर देकर दुहराया है। मनुष्य को ऐसी महत्त्वपूर्ण जो देह मिली है, उसे पाकर उसका कर्तव्य और उसका उत्तर-दायित्व क्या बढ़ नहीं जाता? यदि यह प्रमाणित होता है कि मानव के कुछ कर्तव्य-कर्म अपने ही प्रति और लोक के प्रति हैं तो हमें यह खोज निकालना शेष रहेगा कि वे कर्तव्य क्या हो सकते हैं।

भगवान ऋषभदेव से लेकर आजतक जैनधर्म और अन्यान्य धर्मों के जितने अवतार तीर्थंकर और मसीहा हुए, उन सबने यह माना कि मनुष्य को अपना उद्धार करना पड़ेगा और मात्र यह देह ही कुछ नहीं है। इससे परे भी एक अमर तत्त्व आत्मा है, जो सब सुखों और शान्ति का धारणकर्ता है, किन्तु उसे माया ने अपने सांसारिक आवरणों में आबद्ध कर लिया है।

इसी माया में भ्रमित मानव अपने कर्तव्य से च्युत होकर अकर्तव्य को कर्तव्य और करणीय को अकरणीय समझ बैठता है। इससे अनेक प्रकार के सामाजिक, धार्मिक एवं देशीय बुराइयां और अहितकर प्रवृत्तियां पैदा होती हैं।

इन बुराइयों में चार प्रमुख हैं:—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ।

संसार में मनुष्य सामाजिक एवं व्यक्तिगत दोनों रूपों में उन्नति की ओर बढ़ता रहा है। लेकिन उसके कषाय उसे आगे नहीं बढने देते और उसकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति मे अनेक प्रकार से बाधक बनते हैं, इस प्रकार कषाय मनुष्य का महा वैरी बनता है।

पिछले सहस्रों वर्षों तक संसार युद्ध के अनवुज दावानल में झुलसता रहा है। अनेक सस्कृतियां बनी और मिटी और भस्मसात हो गई, पर युद्ध चलते रहे। नगर श्मसान बन गये। मनुष्यता त्राहि-त्राहि पुकार उठी। महाभारत हुआ, लका युद्ध हुआ, देव-दानव सहार हुआ, विश्व युद्ध दो-दो बार हुए, पर फिर भी जातियों और देशों ने लडना नहीं छोडा, क्योंकि कषाय में पड़े मनुष्य ने अपने कषाय को नहीं छोडा। व्यक्ति में क्रोध के रहते राष्ट्र उसकी ज्वाला से किस प्रकार सुरक्षित रह सकता है। अकेली द्रोपदी के क्रोध के कारण इतना बडा महाभारत खड़ा हो गया। व्यक्तियों और नेताओ का, राष्ट्रों का पारस्परिक द्वेष और क्रोध मिल कर जब रगड खाते हैं तो उसमें से भयकर विस्फोट होकर युद्धके प्रबलानल सुलग उठते हैं। जिस ओर उसकी लपटें जाती हैं उधर ही भस्म और नाश की काली परछाइयां नाचती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज की पारिवारिक और

जातीय अशान्ति के मूल में क्रोध के विनाशक कीटाणु काम कर रहे हैं।

व्यक्ति के क्रोध के मूल में उसका लोभ, स्वार्थ और आग्रह है। मैं ही सत्य हूं—कह कर व्यक्ति-व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धि के तराज़ू पर संसार भर को तौलने और उसका मूल्यांकन करने की धृष्टता करता है और जब इसकी ओर उसका ध्यान खींचा जाता है तब वह गुर्राता है। क्रोध पाप का मूल भी कहा गया है। उसके नशे मे आदमी अपने आपको भूल जाता है और अकर्तव्य मान चालू करता है।

यहा मैं आपको एक साधु और धोबीका दृष्टांत याद दिलाता हूं, जिसमें देव सहायता के मद में एक साधु एक धोबी से लड कर पीटा जाता है। अन्त में जब उसका सांचा सद् ज्ञान जगता है, तो वह धोबी से क्षमा-याचना करता है। इसी समय देव साधु के सम्मुख प्रकट होता है, साधु पूछता है—तू इतनी देर कहां था, जब मेरी पिटाई हो रही थी? अब आया है सूरमा बनने!

देव बोला—महाराज मैं तो निरन्तर आपकी सेवा मे प्रस्तुत था, किन्तु उस लडाई में मैं यह नहीं पहचान पाया था कि किसको मदद दूं। साधु और चण्डाल का भेद समझ में नहीं आ रहा था। दोनों महाक्रोध के वशीभूत मुझे चण्डाल नजर आ रहे थे।

साधु महाराज, देव की यह बात सुन कर चुप हो गये।

इस प्रकार आप देखते हैं कि कषाय साधु को साधुत्व नहीं रहने देता। मान तो इस क्रोध से भी भयंकर है। राम रावण का युद्ध विनम्रता और उद्दण्डता का युद्ध था। अन्त में अभिमान पराजित हुआ। यह तो राम थे कि मान का मान भंग हुआ, परन्तु दूसरा कोई संसारी होता, तो क्या रावण जैसे का दम्भ दलित होता ?

इसी क्रोध और अभिमान के कारण पारिवारिक एवं पारस्परिक शान्ति नष्ट होती है। आपसी कलह में एक दूसरे का सम्मान नहीं रहता। आदमी अपनी कसौटी पर दूसरों को कसता है, वह क्रोध करता है। अपनी कसौटी पर अभिमान करता है, यह मान है। बाहुबली के ज्ञान, त्याग, और शान्ति का क्या पूछना ! किन्तु एक मान के कारण उन्हें एक वर्ष तक एक पैर पर खड़े होकर तपस्या करनी पड़ी !

मान के बाद मनुष्य के मुंह पर पडा दूसरा पर्दा आता है, माया का।

यह पर्दा मान और क्रोध से भी गहरा है। सबसे जटिल और सबसे कुटिल है। विविध रूप बदल कर यह व्यक्तियों को भरमाता है और भाँति-भाँति के जजालों में उन्हें फंसा कर उनकी मुक्ति के मार्ग में बाधा बनाता है। माया और मुक्ति में भारी शत्रुता है। माया का भक्त मुक्ति का शत्रु और मुक्ति का सेवक माया का शत्रु है। माया की गति वक्र है और मुक्ति की गति सरल सीधी है। जिसमें माया है, उसमें सब प्रकार के व्रकार हैं और उसमें सब प्रकार की वक्र-विकृतियां हैं।

इस प्रकार काम का क्षेत्र भी व्यक्ति की विनाश भूमि है। काम में अन्धे होने पर विश्वामित्र, इन्द्र, रावण और अनेकानेक हिन्दू पुराण-पुरुषों का पतन हुआ।

आज के सामाजिक जीवन में अब्रह्मचर्य के बढ़ने से आन्तरिक शुद्धि नहीं रह गई है। इसलिये लोकोद्धार के लिये सबसे आवश्यक है कि व्यवहार की शुद्धि हो। व्यावहारिक शुद्धि के बिना कर्तव्य-परायणता नहीं आ सकती। व्यक्ति अपने लाभ के लिये दूसरों के अधिकारों का बलिदान कर दे या उनकी ओर से निश्चिन्त हो जाता है तो उसका अपना लाभ भी नष्ट हो जाता है। पारस्परिक व्यवहार शुद्धि से जीवन चलेगा। हम यह चाहें कि अपनी ओरसे तो विकारग्रस्त रहें और सारी दुनिया सद्व्यवहार में उत्तर दे, नहीं होगा। व्यवहार और शुद्धि मानसिक गुण है और अन्य मानसिक गुणों की तरह इनमें भी संक्रामकता है। अपने मन में बुराई आने के साथ उस व्यक्ति के मन में भी आ जायगी जिसके लिये वह लाई जा रही है अथवा उसके मन पर भी परछाई पड जायेगी। इस प्रकार के छल कपटमय जीवन की शुद्धि उन सबके लिये जरूरी है जो सच्चा जीवन बिताना चाहते हैं और उन सबके लिये और ज्यादा जरूरी है जो परमात्मा के पथ पर चलने के प्रयासी हैं। अनेक प्रकार के प्रचलित धर्म कर्मों में मन, आत्मा और शरीर की मुक्ति मान बैठना त्रुटिमय है। क्योंकि आत्मा की शान्ति का नाम ही पौषध और व्रत है। आत्मा का महाव्रत है शान्ति

लाभ करना। केवल शारीरिक उपवास करने और भूखों मरने से मुक्ति नहीं मिलती, क्योंकि यदि यही सच्चा पथ होता तो आज तक आधे से अधिक भारत मुक्ति पा जाता। और मुक्ति-लोक में भारतीयों की भारी भीड़ लग जाती ! सचमुच संसार का हित चाहना, प्राणी मात्र के लिये सुकामना करना; धर्म है। मुक्ति और व्यवहार धर्म का चोगा पहन कर भी माया आती है। लम्बे काले कम्बल का चोला पहन कर और धर्मका चिमटा हाथ में लेकर माया आती है और चिलम और गांजा के दम लगाती है। माया भगवा कपड़ों और पादरी के लम्बे लबादे में छिप कर आती है। वह संकुचित धर्मान्धता की जय बोलती है और स्वर्ग के परवाने काटती है। माया वायुमण्डल में व्याप्त है और वायु मायामय बन गयी है।

इन सब विकृत विपत्तियों के बीच कषाय और काम, क्रोध, मान माया, मोह और स्वार्थ के पंक में से मुक्ति का कमल खिलता है।

अपनी अन्तर्वृत्ति को शुद्ध कर, अशुभ से शुभ की ओर शुभ से शुद्ध की ओर बढ़ कर ही मनुष्य उस मुक्ति को पा सकता है।

: चारित्र धर्म :

(१)

नीति धर्म अथवा मोक्ष धर्म को जैनधर्म में चारित्र धर्म कहा गया है। चारित्र शास्त्र का काम श्रेय के बारे में लगातार चिन्तन करना ही नहीं है। अपितु उसके अनुसार अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर जाने वाले साधनों का भी निर्देश करना है।

मोक्ष का आदर्श कितना ही क्यों न वैयक्तिक हो किन्तु उसे सामाजिक नीति धर्म से हम सर्वथा विच्छेद नहा कर सकते।

साधु कितना ही क्यों न एकान्त मोक्ष का अभिलाषी हो उसे भूत, सत्व जीव, और प्राणियो पर दया, उपकार, प्रचार, पथ-प्रदर्शन की भावना तो रखनी ही होगी। इसलिये जैनधर्म में नीति शास्त्र और मोक्ष के साधन परस्पर मे एक दूसरे के पूरक भी बन गये हैं।

केवल दोनों में अन्तर यह रहता है कि नीति का निर्माण मानवीय समृद्धियो, उपयोगिताओं, भौतिक सुखेषणाओं तथा वर्तमान लाभो को लक्ष्य में रख कर होता है और मोक्ष मार्ग का निरूपण त्रिकालबाधित तथा आत्म-विशुद्धि को लक्ष्य में रख कर होता है।

देव, गुरु, धर्म और अन्तरंग आत्मा सद्, असद् निर्णय की वृद्धि के साथ मिल कर जो पथ अपनाया जाता है वह सच्चा मार्ग है। तो भी जैनधर्म मे इन सबसे ऊंचा एक आदर्श रखा है वह है मनुष्य की कृत्य बुद्धि—सद्-असद् बुद्धि अर्थात् अन्तरंग आत्मा का स्थान है।

सच्चा निर्णय देने का अधिकार जो तुम्हारी आत्मा स्वीकार करे अन्तरंग आत्मा समर्थन करे—वह कृत्य सब धर्म हैं, वे क्रियाएं सब तुम्हें उस परम आत्म-दर्शन की ओर ले जाने वाली हैं।

जहा सुहं देवाणु प्रिय! का यही आशय है। यही अर्हन्तों की बार २ ध्वनि है।

अन्तरंग आत्मा उस उच्च आदर्श की ओर प्रेरित होती है जिसे परम धाम मुक्ति तथा सिद्ध लोक कहा जाता है। इस-लिये चारित्र को आदर्श भी कहा गया है। आदर्शान्वेषी विधान शब्द उस चरित्र के लिये अधिक उपयुक्त होगा।

नीति मार्ग अर्थात् मोक्ष मार्ग का सर्वोच्च यही ध्येय होता है कि वह आदर्श का ज्ञान, विश्वास और जाने का रास्ता बता दें। इसीलिये जैन धर्म मे सम्यक् ज्ञान-दर्शन तथा चारित्र की त्रिपुटी को ही मोक्ष का मार्ग स्वीकार किया है।

जैनधर्म उस आध्यात्मिक ज्ञान की शक्ति पर पूर्ण विश्वास करता है, जिससे अपने बन्धनों को सदा के लिये तोड़ देता है। महावीर कहते हैं, गौतम! जो जानता है वही तोड़ता है।

ज्ञान की सार्थकता अन्धकार को भगाना है और धर्म की सार्थकता उस प्रकाश में दिखने वाले दोषों को दूर कर अलौकिक स्थानको स्वच्छ बनाना है। जैनधर्म में जिससे तत्त्व का यथार्थ दर्शन मिलता है, उसे सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। और जिससे तत्त्वार्थ पर अडिग-अडोल विश्वास प्राप्त होता; ऐसे दृढ प्रतीति को सम्यग् दर्शन कहा जाता है और जिससे जीवन को अन्तरग तथा बाह्य सभी ओर से स्वस्थ और संशोधित रखा जाता है, ऐसी दोष निर्नाशनी और गुण विकासनी पद्धति को सम्यग् चारित्र कहा जाता है। मानव मात्र के विस्तृत जीवन में ज्ञान का आलोक, परम सत्य की श्रद्धा और विशुद्ध-जीवन शोधन की प्रक्रिया व्यवस्थित रीति से काम करती है, जो इसका अवलम्बन लेता है वही इस संसार में सच्चा आध्यात्मिक यात्री है, मुमुक्षु है और परम सुख प्राप्ति का साधक है।

महावीर कहते हैं कि गौतम ! ससार का कोई भी प्राणी मनन-चिन्तन पर अपना विचार थोपने की आग्रह वृत्ति न रखे, किन्तु वह अपने ज्ञान-दर्शन तथा चरित्र को अपने आत्मिक स्वाभावानुसार निर्माण की स्वतन्त्रता रखता हुआ भी सम्यक् की कसौटी को कभी हाथ से नहीं जाने दे, नहीं तो कहीं उच्छृंखल मानव मोह में आकर असम्यग् को अपना उपास्य मान बैठेगा। इसी की ओर तुम मानव का लक्ष्य खिंचते जाओ।

ज्ञान और श्रद्धा की बात आप सुन आये हो, चरित्र की

बात अब कही जाने वाली है क्योंकि आत्मा के ज्ञान और विश्वास का सार शुद्धाचार है। मानव-जीवन मे चारित्र्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। किसी भी मनुष्य को ज्ञान और उसके कोरे विश्वास से नहीं आंका जा सकता, ससार तो उसके चरित्र से उसके जीवन की यात्रा को माप सकता है। यही क्या? विश्वास और ज्ञान जब तक क्रियात्मक जीवन में सत्कारित नहीं हो जाते तब तक मनुष्य किसी भी उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

संसार एक अविराम अनन्त प्रवाह है तो क्या जीवन उसमें नदी के पत्थर की तरह सदा परस्पर टकराता ही रहेगा? क्या मानव को इसी ससार मे ही चलना है? कही भी उसका आश्रय स्थल नहीं आयेगा तो सदाचार विश्वास और अन्वेषण सब व्यर्थ प्रयास गिने जायेंगे। अवश्य! आत्मा को कर्मों के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त होगी, इस क्षणिक सुखमय ससार से उठ कर अवश्य आत्मा को अनन्त सुखमय मुक्ति का दर्शन होगा। आत्म-दर्शन ही चारित्र का वह शुभ फल है जिससे मानव अपने पुण्य, अन्तिम श्रद्धा तथा लक्ष्य को सुनिश्चित नीति से प्राप्त कर लेता है।

श्रमण धारा के जैन तत्त्वज्ञान में यही एक सबसे बड़ी विशेषता है कि जीवन को अनन्त सुख की ओर ले चलने का आश्वासन देती है और धीरे-धीरे दुखों के समस्त कारणों को

विध्वस करके मुक्ति-पथ का जीव को यात्री बना कर शाश्वत शान्ति प्रदान करती है।

उस परम सुखमय मुक्ति का जो राजपथ जैनधर्म ने निर्माण किया है, वह है ज्ञान दर्शन, और चरित्र का समन्वय! इन तीनो का सुमेल ही उस शाश्वत सगीत का आरोह बनता है जो गायक को मुक्ति में सदा के लिये प्रतिष्ठित कर देता है।

ज्ञान, दर्शन और चरित्र की त्रिवेणी धारा सीधी मुक्ति की ओर बही जा रही है किन्तु मानव अपनी अपनी क्षमता अनुसार प्रगति करता है। उद्देश्य के सही पथ को पहचानना तो ज्ञान की बात रही और उस पर विश्वास करना श्रद्धा की बात है किन्तु चलना तो अपनी शक्ति पर निर्भर है।

कोई मन्द चलता है और कोई तीव्र। तीव्र चलने वाले को अपनी तमाम मनोवृत्तियो को केन्द्रित और शरीर के अवयवों को एकत्रित तथा तमाम उपाधियो को सकुचित करके भागना पडता है। भागना जरा टेढ़ी खीर है, भागने के लिये बोझ और मूर्च्छा को, आलस्य के प्रमाद को सर्वथा त्यागना पडता है और मन्द २ चलना तो सुविधानुसार भी हो सकता है। भगवान् महावीर उसी प्रश्न को इस प्रकार बताते हैं'—धम्मे दुविहे पण्णते तजहा:—धर्म मुक्ति पथ पर चलने का प्रकार दो प्रकार का है। आगार धर्म और अनागार धर्म। आगार धर्म का अर्थ है—गृहस्थ धर्म अर्थात् घर में रह कर, सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करते हुए राष्ट्र और विश्व के सांसारिक

कर्तव्यों को पूरा करते हुए भी मुक्ति की ओर जाने का रास्ता। अनागार धर्म—अर्थात् घर छोड़ कर, परिग्रह, मूर्छा त्याग कर विषयतृष्णा को ठुकरा कर मुक्ति को जाने का रास्ता। और मुक्ति का अर्थ है आत्म-दर्शन, परमात्म प्राप्ति तथा विदेह मुक्ति का लाभ। निर्वाण सिद्ध। शास्त्रीय परिभाषा में जीवन-शोधन से ज्ञात दोषों को पूर्णतः आवृत्त करने की दृढ़ प्रतिज्ञा वाला अनागारी और ज्ञाताज्ञात दोषों की ओर मन्दता से नष्ट करने की ओर बढ़ने वाला सागारी है। व्रत तो महान् और अणु दोनों रूप का हो सकता है। व्रत एक है, किन्तु पूर्ण और अंशतः ये उसके दो छोर हैं, उसको पाने के ये दो प्रकार हैं और सर्व-अंशतः इन भेदों में भी ये विभक्त हो सकते हैं व्रत, जब महानता से अर्थात् पूर्णता से अंगीकार किये जाते हैं तो महाव्रती और अणुरूप से स्वीकार किये जायें तो साधक की अणुव्रती संज्ञा हो जाती है।

: व्रतों का स्वरूप :

नियम की परिभाषा.—

जीवनको सुधार और आत्म आलोककी ओर ले जाने वाली मर्यादाओं को धर्म में नियम माना गया है अथवा हमें उन्हीं नियमों को नियम मानना चाहिये जो सार्वभौम हों और जो सम्पूर्ण प्राणी वर्ग के लिये सर्वथा हितावह बन सकें।

तीसरी एक परिभाषा और भी हो सकती है कि व्रत उसे कहते हैं जिसमें स्व-पर का हित साधन हो सके।

जैनधर्म ने ससार में पांच दोषों को मुख्यता से प्रतिपादन किया है —हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह। इन पांच दोषों के कारण ही मानवता संत्रस्त है और कुचली जाती है। इन दोषों के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण मानव, राक्षस, दानव, चोर, लुटेरा, व्यभिचारी, लोभी, स्वार्थी, प्रपची मायावी न जाने क्या वन गया है। यदि हम इन दोषों से मानव को धोकर स्वच्छ कर दे तो आत्मा को परमात्मा वनने में एक क्षण भी न लगे। ये दोष मानव अथवा अन्य प्राणी में जन्म जन्म के कुसंस्कार के कारण तथा अज्ञानवश चिपक गये है। भगवान् ने अपने आत्म-दर्शन में इन्हीं दोषों को आत्म-शत्रु वताया है और राग तथा द्वेष को इन दोषों का जन्मदाता।

आज तक मानव जाति के इतिहास और सभ्यता में तथा प्राणियों की सृष्टि में जितने भी दोषों का प्रादुर्भाव हुआ है, इन्ही पांचों मेंसे किसी एक के आधार पर हुआ है। इन पांचों में से भी हिंसा दोष सवसे महानतम है, सवसे विराट् है और सवसे विशालतम है।

हिंसा का अर्थ है प्राणों का वध, पांचां इन्द्रियें प्राण है, क्योंकि पांचों ही मानव के सम्वेदन और ज्ञानानुभूति के सर्व प्रथम भौतिक आधार है।

मन इन्द्रियों का सर्वोच्च अधिकारी है, वचन मन में उठने वाली विचार-तरगो की अभिव्यक्ति का साधन है और शरीर इन इन्द्रियों का आधार है।

श्वासोश्वास प्राणी के भौतिक जीवन धारण की एक अनिवार्य प्रक्रिया है। और आयुष्य जीवन की निश्चित अवधि या रस है जिसे पकड़ कर अनन्त का यात्री मानव इस संसार-सागर में डुबकियां लगा रहा है।

यह दस प्राण हुए। इन प्राणों के वध को हिंसा कहा गया है।

भगवान ने हिंसा-अहिंसा का स्वरूप बताते हुए कहा है:—

हिंसा—प्रमाद में छिपी हुई है और अहिंसा विवेक में। किसी के प्राणों का वध हो जाना अथवा मारा जाना इतना ही नहीं, अपितु मारे जानेके पीछे भावना की क्या परम्परा चल रही है इसे समझे बिना हिंसा और अहिंसाका स्पष्टीकरण कभी नहीं हो सकता है। हिंसा वही होती है जो प्रमादवश अर्थात राग-द्वेष के वशीभूत होकर जो प्राणों का वध किया जाता है। यह हिंसा दस प्राणों में से किसी भी प्राण की की जा सकती है, और समूचे प्राणी की भी। वह सब दोष में समाविष्ट होगी। हिंसा मन से हो, वाणी से हो अथवा काया से अथवा तीन कारण और तीन योगों से, वह हिंसा होगी।

प्रश्न उठता है कि किसी की रक्षा करते हुए भी प्राणहानि हो जाये अथवा भूलचूकसे तो क्या हिंसा होगी? उत्तर स्पष्ट है कि रक्षा करते हुए यदि प्राण हानि हुई है और तुम्हारा विवेक-पूर्ण जागृत रहा है, तो तुम्हें हिंसा नहीं होगी, यदि असावधानी पूर्वक हिंसा होगी तो अवश्य वह हिंसा हिंसा ही कहलायेगी।

असावधानी को ही प्रमाद कहा गया है और प्रमादवश (राग-द्वेष वशीभूत) जो प्राणो के वध की प्रक्रिया है वही हिंसोत्पादिका है। प्राण-वध स्थूल क्रिया है, और प्रमाद योग सूक्ष्म भेद। इस सूक्ष्म योग का भावना पर ही हिंसा-अहिंसा अवलम्बित है।

यद्यपि विवेक से अप्रेशन करते हुए किसी चिकित्सक के हाथों से रोगी को आयु पूर्ण होने के कारण मृत्यु हो सकती है, वह मृत्यु व्यावहारिक अथवा द्रव्य हिंसा होने पर भी कर्म-बन्धकता का कारण नही बनती अपितु चिकित्सक के हाथों से जानबूझ विपरीत विष मिश्रित औषधि देने पर भी रोगी के आयु के लम्बी होने के कारण निरोग हो जाने पर भी वैद्य हिंसा का भागी होता ही है। हिंसा और अहिंसा प्राणियों की भावना पर अवलम्बित है। वास्तव मे अहिंसा की यही व्यावहारिकता है।

केवल प्राण-वध को ही (द्रव्य हिंसा) हिंसा मान लिया जाय तो संसार के असख्य सूक्ष्म, स्थूल गोचर, अगोचर जीवों की हिंसा से कोई भी प्राणी विमुक्त नहीं हो सकता है। किन्तु जैनधर्म ने हिंसा को क्रिया पर ही नहीं अपितु मुख्यतया भावना को ही हिंसा और अहिसा की कसौटी स्वीकार की है।

हिंसा मानव की प्रमादवश होने वाली भूलो का फल है, जिनमें अपना और पर का हित-अनहित छिपा होता है।

हिंसा का मापक यन्त्र वाणी की शुभाशुभ भावना है।

मन में प्रश्न उठता है कि प्राण-नाश अथवा प्राण-वध को हिंसा मानने का फिर क्या कारण ? केवल प्रमत्त योग को ही हिंसा क्यों न मान लिया जाय ?

उत्तर स्पष्ट है कि प्राण-वध हिंसा का स्थूल रूप है, जिसे सार्वभौमिक रूप से अपनाया जा सकता है। हिंसा का मोटा रूप प्राण वध व्यापार है और सूक्ष्म रूप प्रमत्तयोग। सूक्ष्म तक पहुचने के लिये स्थूल को समझना और उसका त्याग करना आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि समाज की सामुदायिक हित भावना—सुख समृद्धि के लिये प्राण-वध रोक देने मात्र से भी शान्ति का प्रसार होता है। सामुदायिक जीवन-विकास और सुख-शान्ति के लिये हिंसा—प्राण-वध को ग्रहण किया गया हैं।

हिंसा पिशाचनी की दासता से मुक्त होनेके लिये आवश्यक है कि —

१—जीवन की आध्यात्मिक साधना की प्यास बढ़ाई जाय और भौतिक आवश्यकताएं कम की जायं तथा अधिक से अधिक जीवन को सादा बनाया जाय।

२—मन की उन चित्त-वृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जाय जिनमें मानसिक कोमलता बढ़े और कठोर की स्वल्प होती चली जाय।

३—जीवन के मूल्य और परहित की ओर सदा जागरूक तथा सावधान रहा जाय।

असत्य

असत्य बोलना एक महान् दोष है, क्योंकि या तो अस्तित्व रखने वाली वस्तुओं के प्रति वक्ता को आत्म-प्रपंचना करके वस्तु जिस रूप में है उसे वैसा न कह कर अन्य का कथन करना पडता है, वह भी असत्य है। जो दूसरों को पीडा पहुंचाने के लिये बोला जाता है, उस दुर्भावयुक्त सत्य को भी असत्य कहा जाता है।

इस असत्य को उदाहरण की भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि तुमने किसीका धन लिया किन्तु जब उस लेन-दार ने मागा तो तुमने साफ निषेध कर दिया, यह असत्य है। अथवा किसी गरीब को दुःखाने के लिये भरी सभा में बोलना कि तू कंगला है, यह भी असत्य है।

इस दोष से बचने का दो उपाय—(१) प्रमत्त योग का त्याग, मन वाणी और काया की एक रूपता, सत्य को दुर्भाव-युक्त अप्रियकारी न बोलना।

चोरी

बिना दिये लेना स्तेय—चोरी है। वृत्ति को स्वच्छन्द छोड देते हैं तो वह वृत्याश्रित मानव अनधिकृत वस्तु पर भी अधि-कार करता है, न्याय समाप्त कर देता है। अपने लालच को दूसरी प्रकार से पूरा करता है।

मैथुन

मैथुन प्रवृति अब्रह्म है। कामवश स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध की लालसा को अब्रह्म कहते हैं। मैथुन को अब्रह्म कह कर यह सूचित किया गया है कि आत्मा के सद्गुणों का कामदोष नाश करने वाला है। ब्रह्म से आत्मीय गुण ध्वनित होता है। मैथुनमें पड़ते ही आत्मिक गुणों का नाश और शक्ति का ह्रास होने लगता है।

परिग्रह

मूर्च्छा परिग्रह है। भौतिक वस्तु पर आसक्ति रखने से विवेक नष्ट हो जाता है. आत्म-स्वरूप भूल कर प्राणी वस्तु-प्रधान होकर राग-द्वेष वशीभूत होकर अनेक दोषों का अर्जन करता हुआ लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है।

मूर्च्छा और आसक्ति दोनों दोषों का मूल है। मानव-जाति और प्राणी सृष्टि के यह पांच दोष हैं। यह दोष क्यों हैं, किस रूप में हैं, इनका क्या मार्ग है। साधारण मानव इनको सहज वृत्तियां भी मान सकता है। ठीक है मोहग्रस्त मानव और प्राणी की यह दोषग्रस्त प्रवृत्तियें होती हैं किन्तु अध्यात्म के यात्री और मुक्ति के साधक को विश्व-शान्ति और मानवता के अमर पुजारी को तो इन दोषों का शमन करना ही पड़ेगा।

आजतक का इतिहास साक्षी है कि मानव इन्हीं दोषों के कारण अपना और संसार का अहित करता आया है। यदि

इन दोषों का शमन हो जाय तो शान्ति और परम सुख प्राप्ति में कोई देर नहीं।

किन्तु इन दोषों को त्यागना कोई सरल काम नहीं। समूचा ससार प्रमाद की गहरी नींद में सो रहा है, जो इस प्रमाद को छोडता है और अपने अन्दर से ढोंग, कपट, भोगों की लालसा और असत्य का आग्रह, इन तीनो सत्यों अर्थात् बुराई को त्यागे बिना इन व्रतों को कभी भी पालन नही कर सकते। अत: आवश्यक है कि मुमुक्ष को अपने जीवन के अन्तर और बाह्य मे से इन तीनो बुराइयों को त्याग कर व्रती बनने का दोषों को नष्ट करने का दोषो को नष्ट करने का और सच्चा साधक बनने को तैयार होना चाहिये।

हो सकता है कि ससार का हर मानव इन दोषों को सर्वथा दूर करने का साहस न रखता हो, उसके लिये व्रतों के अनुरूप की व्यवस्था की गयी है। जैनधर्म की आचारपद्धति में इन व्रतों का ही मुख्य भ्रम है।

व्रतों के दो रूपों मे से.—एक सर्वांशत पालन करने वाला, उन्हें जैनधर्म मे साधु—श्रमण कहा जाता है और दूसरा जो इन व्रतों को अशत, अणुरूप से स्वीकार करता है उसे श्रावक कहा जाता है। श्रावक के बारह व्रत है।

: चारित्र धर्म :

(२)

अहिंसा के पोषक के लिये जैसे चार अन्य व्रतों की सुरक्षा
ाक्ति बनाई गई है उसी प्रकार गृहस्थ के लिये १२ व्रतों की
स्थापनो की गई है, शेष उन आठ व्रतों में तीन गुण व्रत और
चार शिक्षा व्रत के नाम से पुकारे जाते है।

पांच अणुव्रत:—

प्रथम अणुव्रत अहिंसा है, अहिसा का अर्थ है मन, वचन,
काया से किसी भी त्रस जीव की हिंसा नही करना और
स्थावर जीव की रक्षा का प्रयत्न करना। पृथ्वी, पानी, अग्नि,
वायु, वनस्पति ये स्थावर है गृहस्थ की हिंसा चार प्रकार
की है।

आरंभी, उद्योगी, विरोधी और सकल्पी। गृहस्थको अनेक
प्रकार का आरम्भ करना पडता है—(आरभ-पापक्रिया) भोजन
बनाना। उद्योगी हिंसा—गृहस्थ-व्यवहार चलाने के लिये उसे
कोई न कोई उद्योग तो करना ही पड़ता है। आरभ और उद्योग
में हिंसा का मिश्रण तो रहता है और फिर संसार में रहते हुए
अनेक प्रकार के विरोधी वर्ग—चोर, जार, ठग, शत्रु समाज-
राष्ट्रद्रोह से भी सामना हो जाता है और उसमें भी राग द्वेष

होने के कारण हिंसा का दोष लगता है और फिर अन्त मे रही संकल्पजा हिंसा। जानबूझ कर हिंसा करना, नौकर, पड़ोसी और छोटे मोटे प्राणी इन सब को संकल्प करके मारने की भावना बनाना, वाणी से मारने की बात कहना और शरीर से मारना इसे संकल्पी हिंसा कहते हैं।

गृहस्थ के मार्ग को विषम देखते हुए ही पूर्ण अहिंसा तक पहुंचने के लिये मध्य में सरल और अपूर्व कठोर मार्ग की व्यवस्था की है। अन्तिम हिंसा का पूर्णतया और शेष तीन प्रकार की हिंसा पर मर्यादा करना अथवा सावधान रहने का आदेश देकर ही श्रावक को अहिंसा व्रत की साधना बतला दी है।

मानव जाति यदि केवल संकल्पी हिंसा का भी त्याग कर दे और संसार के अन्य प्राणियों के प्रति प्रेम-भाव रखे, दुनियां में शान्ति का साम्राज्य आ सकता है। शान्ति का यही सीधा और सरल मार्ग है।

अहिंसा की वृद्धि के लिये इन दोषों से बचना चाहिये.—

(१) जीवों को मारना, पीटना, त्रास देना।

(२) अंग भंग करना, अपंग बनाना या विरूप करना।

(३) कठोर बन्धन से बांधना या पिंजरे आदि में रखना।

(४) शक्ति से अधिक भार लादना या काम लेना।

(५) समय पर भोजन न देना, भूखा प्यासा रखना।

असत्य अणुव्रतः—

१—मन, वाणी और शरीर से कभी भी स्थूल असत्य नहीं बोलने की प्रतिज्ञा करना और सामान्य या सूक्ष्म असत्य के प्रति सावधान रहना यही असत्याणुव्रत है।

सामान्य या सूक्ष्म असत्य की परिभाषा कुछ निश्चित नहीं की जा सकती, किन्तु तो भी जिस असत्य से समाज को अविश्वास की भावना बढ़े और राज्य कानून का उल्लंघन हो, इसे स्थूल असत्य कहते है। और इससे विपरीत सूक्ष्म असत्य। इस प्रकार का भी असत्य हानिकर है। असत्याणुव्रत के रक्षा के लिये इन पाचों बातों से बचना चाहिये—

(१) दूसरे पर झूठा आरोप लगाना।

(२) दूसरे की गुप्त बातें प्रगट करना।

(३) पत्नी आदि के साथ विश्वासघात करना।

(४) बुरी या झूठी सलाह देना।

(५) झूठी दस्तावेज बनाना, जालसाजी करना।

आचौर्याणुव्रतः—

मन, वाणी तथा शरीर से किसी की भी सम्पत्ति पर अनुचित अधिकार न करने की प्रतिज्ञा को आचौर्याणुव्रत कहते हैं। इसमें भी छोटी और मोटी चोरी को ऊपर की तरह समझ लेना चाहिये।

किसी वस्तु को चोरी से लेना और सहयोग मित्रतापूर्वक

लेना। इन दोनों मार्गों मे से किसी से वस्तु मांगना श्रेयस्कर है चोरी से लेना अहितकर है। गृहस्थ को सम्पूर्णत: चोरी का त्याग करना कठिन पडता है तो सेन्ध लगाना, जेब काटना, डाका डालना, सूद और व्याज के बहाने से किसी को लूट लेना इन मोटी चोरियों का तो उसे त्याग करना चाहिये।

पांच बातों से बचना चाहिये:—

(१) चोरी का माल खरीदना।

(२) चोरी के लिये सहायता देना।

(३) राष्ट्र विरोधी कार्य करना, कर आदि न देना।

(४) झूठ तोल-माप करना।

(५) मिलावट करके अशुद्ध वस्तु बेचना।

ब्रह्मचर्याणुव्रत:—

शरीर का ब्रह्म वीर्य है, उस वीर्य की रक्षा के लिये जो मन का बल, आत्मा का प्रकाश, शरीर की स्वस्थता और समूचे जगत् के तत्त्व का पिण्डीभूत रूप है उसकी रक्षा के लिये मन, वाणी तथा शरीर से स्त्री-पुरुष सम्बन्धी किसी भी प्रकार के संभोग की इच्छा न रखना पूर्ण व्रत है, किन्तु इसे अपने स्त्री तक मर्यादित कर देना अणुव्रत है।

जैनधर्म संसर्ग की भावना को प्राकृतिक कह कर उपेक्षा नहीं करता है। संभोग प्रवृत्तियों में असंख्य सूक्ष्म जीवों का वध होता है और राग-द्वेष का उग्र रूप बनता है, जो समस्त पापों का मूल है। आसक्ति इस पाप का कारण है किन्तु तो

भी गृहस्थ उसे स्वपत्नि और पत्नि इसे स्वपति तक मर्यादित कर लेते है और अन्य ससार की तमाम स्त्रियों को—वड़ी को मा समान, छोटी को वहिन और छोटी को पुत्री की भावना से देखता है तो अवश्य ब्रह्मचर्याणुव्रत की रक्षा हो सकती है।

पांच वातों से बचना चाहिये—

(१) किसी रखैल के साथ कुसम्बन्ध जोडना।

(२) पर-स्त्री अविवाहित, वेश्या आदिसे सम्बन्ध जोडना।

(३) अप्राकृतिक व्यभिचार करना।

(४) दूसरे के विवाह, लग्न आदि में अमर्यादित भाग लेना।

(५) काम भोग की तीव्र आसक्ति रखना, अति संभोग करना।

अपरिग्रह व्रतः—

परिग्रह संसार का सवसे वड़ा पाप है, मानव जाति की अर्थ—व्यवस्था, गरीव, अमीर आदि की विषमता इसी परिग्रह पिशाच की देन है। परिग्रह वस्तु है, किन्तु वस्तु के प्रति मूर्च्छा भाव ही वास्तविक परिग्रह है। संसार का चार में से तीन भाग का पाप, कलह, संघर्ष आदि दूषित भावो का यही दोष जन्मदाता है। तो भी गृहस्थ का इस वस्तु परिग्रह के विना तो काम नहीं चल सकता, इसीलिये उसकी प्रतिज्ञा का यह स्वरूप होना चाहिये।

मन, वाणी तथा शरीर से अमर्यादित स्वार्थवृत्ति तथा संग्रह वुद्धि से धनादि परिग्रह का त्याग करता हूं और आवश्यक

तथा अनिवार्य अपने धन; जन, सम्पत्ति आदि सभी की मर्यादा करता हूं।

अत. उसे पांच बाते निर्धारित करनी चाहिये—

(१) मकान, दुकान और खेती आदि की भूमि।

(२) सोना चांदी

(३) नौकर, चाकर, गाय, भैंस (द्विपद चतुष्पद)।

(४) मुद्रा, जवाहिरात और धान्य।

(५) प्रतिदिन के व्यवहारमें आने वाली पात्र, शयन, आसन आदि वस्तुएं—इन सबकी मर्यादा करनी आवश्यक है।

दिग्व्रत:—

मनुष्य पाप, धन और विजय के लिये दिग्विजय करते हैं, संसार का परिभ्रमण करते हैं, आज तक राजागण दिग्विजय के लिये संहार करते रहे हैं और व्यापारी आसपास के राष्ट्रों की गरीब प्रजा का शोषण करते रहे हैं, इसलिये छठे दिग्व्रत का विधान किया गया है।

अपनी त्याग-वृत्ति के अनुसार पूर्व, पश्चिम चारों दिशाओं में अपनी कर्म क्षेत्र की मर्यादा बाध कर उससे बाहर पापाचरण का सर्वथा त्याग करना पड़ता है।

त्याज्य पांच बातें—

भ्रमण करने के तीन मार्ग—

(१) ऊर्ध्व—वायुयान यात्रा, पर्वतारोहण।

(२) अध—समुद्रगर्त, खोह इत्यादि में उतरना।

(३) तिर्यक्—सीधे मार्ग पर चलना।

(४) क्षेत्र-वृद्धि प्रमाण—क्षेत्र की सीमा निश्चित करना।

(५) सीमा मर्यादा—मर्यादा उल्लंघन कर जाना। इन चारों की उचित मर्यादा करके सीमा बांधना और पांचवें नियम के लिये सावधान रहना।

श्रावक के तीन प्रकार है। व्रतों को अनुरूपसे पालन करना अणुव्रत है। किन्तु व्रतों की अणुरूप साधना के भी तीन प्रकार हैं। देशव्रत व पक्ष रूप से निष्ठा रूप से अथवा पूर्ण देशव्रत की पालन करना। प्रारम्भ, मध्य और पूर्ण ये तीन अवस्थाएं देश व्रत साधना की कही गई है। इन तीनों गुणों के आधार पर श्रावक भी तीन प्रकार के होते हैं—

पाक्षिक, नैष्ठिक, साधक।

जो एक देश से (अर्थात्—आंशिक रूपसे) हिंसा का त्याग कर श्रावक धर्म अंगीकार करता है उसे पाक्षिक श्रावक कहते है।

जो अतिचार-दोष रहित श्रावकधर्म का पालन करता है वह नैष्ठिक श्रावक होता है।

मानव की गृद्धदृष्टि को रोकने के लिये जो देश चारित्र को पूर्ण रीति से पालन करता है और आत्मा की स्वरूप स्थिति में लीन हो जाता है, वह साधक श्रावक कहलाता है।

पाक्षिक श्रावकः—

अहिंसा की साधना करने की प्रारंभिक दशा में प्रवेश करते

ही बहुत जीव वाले वृक्षों के फल खाना छोड़ता है। जैसे:—पीपल, वट, पिलखन गूलर. आदि काक उदुम्बरी ऐसे वृक्षों के फल नहीं खाने चाहिये। झूठ चोरी. व्यभिचार और धन के लोभ को छोड़ने का सतत प्रयत्न करता है।

जुआ, वेश्या. शिकार. पर-स्त्रीगमन, मद्य. मांस आदि कुव्यसनों का त्याग करता है। सुपात्रदान, अनुकम्पादान, लोकोपकारी कृत्य. मानवता के धारण को निभाने वाले कृत्य करता है।

नैष्ठिक श्रावक:—

निष्ठापूर्वक अहिंसादि पन्च अणुव्रतों की साधना करना देश चारित्र की मध्य दशा है। पांच मूल व्रत और तीन गुण व्रत आदि व्रतों को जो किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगाता।

मद्य सम्बन्धी बुरे व्यापार का त्याग करता है। सात्विक शुद्ध स्वच्छ भोजन स्वल्प व्ययी वस्त्र छान करके पानी और सदाचारी बनने का जो दृढ़ संकल्प करता है और हर समय संसार की आसक्ति से विमुक्त होकर आत्म-कल्याणकी कामना करता है, वही नैष्ठिक श्रावक है।

उपभोग-परिभोग व्रत:—

भोग का अर्थ है एक बार भोग में आने वाली वस्तु जैसे भोजन आदि। बार २ भोग में आने वाली वस्तु वस्त्र आदि। इस व्रत को दो विभागों में विभक्त किया है भोजन और कर्म (व्यवसाय)।

भोजनमें शरीरके मर्दनसे लेकर समस्त भोजन-सामग्रीकी—खाद्य, पेय, आस्वाद्य—इन सबकी मर्यादा करनी पड़ती है। इसे २५ प्रकार में बांटा गया है और इसके साथ इस व्रत में भोजन की सात्विकता तथा अहिंसा-वृद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

मद्य, मांस, गूलर, बड़, पीपल, पोकर, कटुम्बर तथा अज्ञात फल, रात्रि-भोजन को सर्वथा श्रावक के लिये त्याज्य बतलाया है।

भोजन में सात्विकता तथा अहिंसा दृष्टि अपनानी चाहिये। त्याज्य पांच बातें.—

(१) व्यक्त सजीव वनस्पति का आहार नहीं करना।

(२) सजीव से सबद्ध वनस्पति आहार नहीं करना।

(३) अधपक्का कच्चा आहार नहीं करना।

(४) जो वस्तु पक कर सड़ गई हो उसका आहार नहीं करना।

(५) तुच्छ पदार्थों का आहार नहीं करना।

अनर्थदण्डविरमण व्रतः—

बिना प्रयोजन के ही हिंसा करते रहने को अनर्थ दण्ड कहते हैं। विवेक शून्य मनुष्यों की मनोवृति चार प्रकार से अनर्थमय हिंसा उपार्जन करती रहती है।

(१) अपध्यान—रागद्वेप मय विचार करते रहना रहना।

(२) प्रमादाचरित—मद, कषाय, विषय विकथा करना।

(३) हिंसा प्रदान—हिंसा के साधन बंदूक आदि बना कर दूसरों को देना।

(४) पाप कर्मोपदेश—पाप जनक कर्मों का उपदेश।

इस व्रत मे पांच त्याज्य बातें—

(१) कामवासना-वर्धक बातें नहीं करना।

(२) वासनोत्तेजक कुचेष्टा नही करना।

(३) असभ्य वचनों का प्रयोग नहीं करना।

(४) हिंसक शस्त्रों का व्यवसाय नहीं करना।

(५) उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का अधिक भोक्ता नहीं होना।

अनर्थ दण्ड मानव की उच्छृंखल और व्यर्थ में ही होने वाली हिंसा को रोकने के लिये है।

चार शिक्षा व्रत—

शिक्षा का अर्थ है—आचरण, अर्थात् पांच अणुव्रतों और तीन गुण व्रतों को पालन करने की पद्धति।

सामायिक व्रत—

जैनधर्म मे विषमता को ही पतन का मूल कारण माना गया है और आर्हती साधना का चरम उद्देश्य समता को केन्द्र मान करके ही मुक्ति की ओर गया है।

समता व्रत का महत्त्व इसलिये भी बढ़ जाता है कि इस

व्रत में तमाम सावद्य पापकारी प्रवृत्तियों को त्याग कर मन, वचन तथा काया के योग को कमसे कम ४८ मिनिट तक और अधिक से अधिक यावत्जीवन तक इस समता मुद्रा को धारण करना पडता है।

साधुता की सीढी तक पहुंचने का यह प्रथम चरण है। इससे मानव मे विषमताओं से हट कर आत्म-दर्शन और समस्त प्राणियों में समत्व दर्शन की स्फूर्ति प्राप्त होती है। सामायिक के कितने ही प्रकार हैं —

सम्यक्त्व सामायिक—

तत्त्व के प्रति श्रद्धा, जीवन के प्रति सजगता, विचारों पर नियमन और प्राणियों पर दयाभाव करना भी सामायिक का एक प्रकार है।

श्रुत सामयिक —

आगम का स्वाध्याय करना. अर्थ तथा मूल को समझना भी सामायिक है। स्वाध्याय में भी मनोवृति और मानसिक चञ्चलताए सम—समान हो जाती हैं, किन्तु स्वाध्याय आत्म-दर्शियों की वाणी का ही होनी चाहिये। उपन्यास आदि का स्वाध्याय तो मन को विकृत भी कर सकता है।

चारित्र सामायिक—

कर्मों की सम्बद्धता को उपशान्त करना, क्षय करना अथवा क्षय और उपशम करना भी सामायिक है।

इस व्रत की पाच त्याज्य बाते—

(१) मनोदुष्प्रणिधान—मन से असत् प्रवृति करना।

(२) वचन दुष्प्रणिधान—वचन से असत प्रवृत्ति करना।

(३) काया दुष्प्रणिधान—काया की असत् प्रवृत्ति करना।

(४) स्मृति अकरणता—सामयिक के सीमित समय को भुला देना।

(५) अनवस्थितकरणता—व्यवस्थित रीति से सामायिक नही करना।

आत्म-साधक का सामायिक की साधना करना अन्तर्मुखी विराट् चिन्तन का अन्तर्द्वार खोलना है, इसका प्रारंभ ही पापाचरण के निरोध और आत्म-परीक्षण से होता है।

देशावकाशिक व्रतः—

देश, क्षेत्र, अवकाशिक--निश्चित मर्यादा करना अर्थात् दिग्व्रत में जो दिशाओ का परिमाण और भ्रमणीय गमन का निश्चित भ्रमण की सीमा करनी पडती है, उसमें दैनिक क्षेत्र की सीमित मर्यादा करना और भोजन आदि योग्य सामग्री की एक एक दिन के लिये अति सकुचित मर्यादा बांधना ही देशावकाशिक व्रत है।

दिग्व्रत में और इसमें अन्तर इतना ही है कि दिग्व्रत यावत्-जीवन का होता है और यह दैनिक होता है। विवेकशील श्रावक एक घडी, प्रहर, दिन पक्ष, मास, आदि नियत समय करके क्षेत्र मर्यादा कर लेता है।

इस व्रत में पांच आगार है —

(१) राजाज्ञा

(२) देवोपसर्ग

(३) रोगवग

(४) मुनि दर्शन

(५) उपाकारार्थ
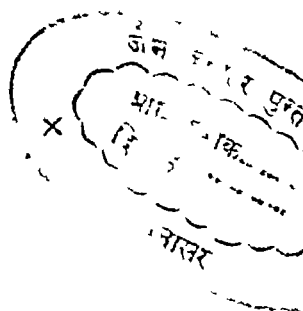
इन पांचों कारणों के कारण यदि मर्यादित क्षेत्रका उल्लंघन करना भी पड़ता है तो व्रत टूटता नहीं है।

इस व्रत की पांच त्याज्य बातें —

(१) आनयन प्रयोग—अन्य व्यक्ति से मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मांगनी।

(२) पेष्य प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से वस्तु भेजना।

(३) शब्दानुपात—शब्द के प्रयोग से सीमा का अतिक्रमण करके बुलाना।

(४) रूपमुपात—अपने रूप या चेष्टा द्वारा बुलाना।

(५) बाह्य पुद्गल परिक्षेप—ककर, लकड़ी फेंक कर मर्यादित क्षेत्र से बाहर के आदमी को बुलाना।

प्रतिज्ञा करके जो सीमा निश्चित की हो उसका किसी प्रकार से भी उल्लंघन नहीं करना ही इस अतिचार व्यवस्था का उद्देश्य है।

पौषधोपवास व्रत:--

पौषधोपवासका अर्थ है एक अहो-रात्रि अन्नजल त्याग कर

शस्त्र व्यापार से विरत होकर सावधान से योग—पापकारी वृत्ति, छोड कर ब्रह्मचर्य आदि व्रतों को पूर्णता से स्वीकार करके परिपूर्ण पौषध व्रत अंगीकार किया जाता है। यह साधु जीवन का पूर्णतः एक दिन का अभ्यास है। अष्टमी, पंचमी आदि विशिष्ट तिथियों पर पौषध व्रत का पालन किया जाता है। इसमें भेष भी साधु जैसा और क्रिया भी कुछ कुछ साधु जैसी पालन करनी पडती है। स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन में दिन रात लगाना पडता है। आत्मिक और धार्मिक निश्चलता के लिये यह व्रत परमावश्यक है।

पांच त्याज्य बातें—

(१) शुद्धासन का प्रतिलेखन नहीं करना।

(२) वस्त्रादि का रजोहरण से परिमार्जन नहीं करना।

(३) मल-मूत्रादि की भूमि को यत्नपूर्वक न देखना।

(४) मल मूत्रादिकी भूमिका परिमार्जन न करना।

इन समस्त बातों का त्याग कर साधकको आत्मस्वभावी बनना चाहिये।

अतिथिसंविभाग--

अतिथि—आगमन की अनिश्चित तिथि—समय हो जिसका, ऐसे साधु को अतिथि कहते हैं। अतिथि को निर्दोष आहार देने की भावना को अतिथि संविभाग व्रत कहा गया है।

परिग्रह से उत्पन्न हुई संग्रह की भावना को नष्ट करने के लिये इस व्रत की व्यवस्था की गई है। अतिथि शब्द में साधु

ही अधिक ध्वनित होता है। किन्तु अन्य भी योग्य पात्र के लिये गृहस्थ को स्वधर्मी के नाते उचित सत्कार-सम्मान की भावना रखना चाहिये।

गृहस्थी के द्वार खुले रहने चाहिये। कोई भी भूखा-प्यासा यदि समर्थ गृहस्थके द्वार से निराश लौटता है तो वह सद्गृहस्थ के लिये पाप है। यह अतिथि संविभाग व्रत भी इसी पाप से बचने का उपदेश करता है।

इस व्रत में पांच त्याज्य बातें —

(१) अयोग्य वस्तु देना।

(२) सचित्त मिश्रित वस्तु देना।

(३) अतिथि आने के समय द्वार बन्द कर लेना।

(४) स्वयं भोजन न देकर दूसरे से दिलवाना।

(५) दुखी होकर भोजन देना।

साधक श्रावक, बारह व्रतों को निर्दोष तथा उच्चता और पूर्णता के साथ पालन करता है और अन्तिम समय मृत्यु को सन्निकट आई जानकर समाधि मरण से संल्लेखना व्रत अंगीकार करके समता भाव से मृत्यु को आने देता है—दुर्भिक्ष, सकट, उपसर्ग के आने पर भी जो अपने व्रतों की रक्षा के लिये अपने प्राणों की उत्सर्ग अकुलाहट वरण करता है वही साधक श्रावक होता है।

जैन श्रावक जीवन मे अनासक्त रह कर संसार का भला करता है और मृत्यु आने पर समाधिस्थ हो जाता है, यही

उसके जीवन की कला है। उसमें पूर्णतया लोभ, ममता तथा आसक्तिका प्रादुर्भाव नहीं होने पाता। यही उसकी विशेषता है।

समाधि मरण का अर्थ आत्म-साधन नहीं। अपितु मृत्यु के समय जीवन की आशा में न फंस कर मृत्यु के समय भी अपने आत्मभाव की सफलता बनाये रखने का नाम है।

आत्मघात दुख से भाग कर पलायन होता है। समाधि मरण मृत्यु से भी बढ़ कर साहस और समता के साथ मृत्यु को आने देना और अन्त-क्रिया को सुधारे रखना ही समाधि का उद्देश्य है।

भगवान ने मरण दो प्रकार का बतलाया है—१ बाल मरण (अज्ञानी मरण), २ पण्डित मरण। तड़प कर, परवशता, शस्त्रादि, गिरिपतन—फांसी, अग्नि प्रवेश, विष-भक्षण आदि कुक्रियाओं द्वारा मरना बाल मरण है।

पण्डित मरण खानपान का त्याग कर पादोपगमन (वृक्ष के सदृश स्थिर होकर) समाधि भाव से मृत्यु को प्राप्त होना पण्डित मरण है।

अणुव्रतों की सूचना के अनन्तर यह समझना आवश्यक रहेगा कि इन व्रतों में परस्पर सम्बद्धता की एक कड़ी काम करती है। एक व्रत के टूटते ही दूसरे भी टूटने लग जाते हैं। ये सब व्रत एक दूसरे के पूरक हैं, इन व्रतों के पालन करने से आध्यात्मिक उन्नति, सामाजिक न्याय तथा परम सुख की

प्राप्ति तो होती है, साथमें मानव की वृद्धि निरन्तर के साथ साथ आत्म-विस्तार की भावना को भी वल मिलता है।

इन साधनाओं में ससार को छोड कर भागने का नाम नही है। ससार को मिथ्या कह कर अवास्तविक समझने की भ्रम-पूर्ण बात भी नही है। क्योंकि इन व्रतों का आधार है भगवती अहिंसा, और अहिंसा का प्रथम चरण यही है, समत्वदर्शन, अहिंसा से सर्वसमा सस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ है। जीवन का मूल्य बढता है, प्राणियों पर प्रेम भावना ही नहीं अपितु मित्रतो के अधिकारी का पद दिया गया है।

संसार के तमाम प्राणियों को मित्र समझे विना अहिंसा का कभी पालन नही हो सकता। मानवता का उत्थान आत्म-विस्तार का माध्यम अहिंसा ही है। इसीसे ही सार्वभौम शान्ति का सर्जन होगा।

संसार इन व्रतों की उपयोगिता समझ कर उसका पालन करेगा तो अवश्य कल्याण का सुवर्ण दिन आयेगा।

: चारित्र धर्म :

(३)

श्रमणत्व का उदय,

मनुष्य समाज का रक्षक, राष्ट्र का सैनिक और परिवार का केवल सदस्य वन जाने मात्रसे पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता, उसे इन कर्तव्यों से पार होकर जीवन के अन्तिम मार्ग को अकेले होकर भी पार करना पडता है। इसीमें मानवता की सर्वोच्च सिद्धि है। और यही है श्रमणत्व परम्परा।

दुनियां के झझटों और वच्चों की ममता का त्याग ही सन्यास या श्रमण नहीं कहा जा सकता, वल्कि श्रमत्व तक पहुंचने के लिये उसे धन और सम्पत्ति का लोभ नष्ट करना पडता है, वह सफलता पर झूमता नहीं और असफलता पर हतोत्साही होता नहीं।

श्रमण की यही सबसे वड़ी विजय है कि वह तिरस्कार सहन कर सकता है किन्तु कटु वचन वोल कर किसी को वह अपमानित नहीं करता।

श्रमण न तो अपनी व्यक्तिगत व कोई आकांक्षा रखते हैं और नहीं आसक्ति। सम्पूर्ण पृथ्वी को अपनी मान कर ससार के जीवों को मित्रता का सन्देश देकर सदाचार का कठोर मार्ग अपनाता है।

श्रमण शारीरिक पूर्ति के लिये गृहस्थो पर अवलम्बित है, क्योकि श्रमण समाज की भौतिक उन्नति में कुछ भी नहीं करता है। वह आध्यात्मिकता की एक चलती-फिरती एक संस्था बन कर संसार को आत्म-बोध प्रदान करता है।

साधु संसार के राष्ट्रीय अहंवाद का समर्थन नहीं करता, क्योंकि श्रमण इन तमाम मनोवृत्तियों को सकीर्ण मानता है, श्रमण को सम्पूर्ण जीवन के प्रति आस्था है, भिन्न २ रंग-रूप में बटे मानवीय टुकड़ियों के साथ नही। मुक्त पुरुष संसार की भलाई से कभी भी विमुख नही होते और कोई कामना भी नहीं रखते। संसार के पीडित प्राणियों के दुखों के प्रति श्रमण को दयाभाव होता है और उसे मिटाने की धगश। दुःख से मुक्त कराने को ही श्रमण अपने धर्म का सबसे बड़ा सिद्धान्त मानता है।

श्रमण संसार की वह सबसे श्रेष्ठ आत्मा है; जो समूची मानवता का साकार प्रतिनिधि बन कर आध्यात्मिक उन्नति और परम शान्ति के उपायों का भूति तल पर शोध करता है और मानव जाति तथा प्राणी सृष्टि को उस महान अन्वेषण से निष्काम सम्पन्न बना देता है। शमन, श्रम और शान्ति का प्रतीक श्रमण इस भूतल पर सदेह परमात्मा है।

श्रमण भगवान महावीर ने साधु को सम्बोधन करते हुए कहा था—

साधुओं! श्रमण निग्रन्थों के लिये लाघव, अल्पेच्छा,

अमूर्च्छा, अगृद्धि अतिबद्धता, अक्रोधत्व, अमानत्व, अमायत्व, और अलोभत्व ही प्रशस्त है।

इन्हीं गुणों से श्रमण संसय पार करता है। उसी श्रमणत्व के प्रकाश के लिये भगवान ने चारित्र शास्त्र का विधान किया है।

चारित्र की व्याख्याः—

अहिंसा की विराट् साधना को चारित्र कहा जाता है। जैनधर्म ने आत्मा की शुद्ध दशा मे स्थिर रहने के आचरण को ही चारित्र का अर्थ माना है। परिणाम-शुद्धि तथा पालन की भिन्नता और तपस्या आदि विशिष्ट क्रियाओ की तरतमता के कारण चारित्र को पांच रूपों में बांट दिया है —

प्रथम चारित्र —सामायिक चारित्र है।

भगवान कहते हैं —आत्मा ही सामायिक है। यही सामायिक का अर्थ है और यही व्युत्सर्ग है। सयम के लिये क्रोध, मान, माया और लोभ को त्याग कर इन दोषो की निन्दा करो। दोषों की गर्हा सयम है। दोषों की गर्हा ही समस्त दोषो का नाश करती है। यही सामायिक का मूल रहस्य है। आत्मा को समभाव में स्थिर रखनेके लिये सम्पूर्ण अशुद्ध प्रवृतियों का त्याग करना ही सामायिक चारित्र है। शेष चारो चारित्रों का आधार सामायिक ही है, किन्तु शेष चारित्र आत्मा की विशिष्ट परिणति, कषायों का शमन, इन्द्रियों का निरोध, महाव्रतों का

सम्पूर्ण पालन तथा कठोर परिषहोंका सहन. संवर और निर्जरा रूप पवित्र भावना के आधार से विशुद्ध होते है। उत्तरोत्तर पवित्रता को ही पांच रूप में बांट दिया है।

सामायिक चारित्र सामान्य तथा नियत समय के लिये पालन किया जाता है।

छेदोपस्थापन चारित्रः—

विशिष्ट श्रुताभ्यास की प्रक्रिया को पूरा करने के लिये प्रथम दीक्षा के दोषों के आगमन को छेद कर नये सिरे से पूर्णतः अहिंसा की दीक्षा दी जाती है. इसे छेदोपस्थापन चारित्र कहा जाता है। पाच महाव्रतो का पूर्णत. पालन करने की प्रतिज्ञा होती है।

साधुता का अधिकारी वही हो सकता है जो ममता, अहकार, निसग और कठोरता को त्याग कर प्राणी मात्र पर दया, समभाव—निन्दा प्रशसा, से तटस्थ तथा सर्वत्र समरस रहने की क्षमता रखता है।

वही साधु हो सकता है जो २७ गुणो का साकार मूर्तिमान उदाहरण होता है। साधु के निम्न २७ गुण है:—

(१) अहिंसा—

मन. वाणी और काया के तीन करण और तीन योग के द्वारा वह सम्पूर्ण अहिंसा पालन करने की प्रतिज्ञा लेता है।

साधु का मन अमृत कुण्ड और वाणी अमृत का प्रवाह

तथा काया अमृत की देह के समान ही होती है। साधक अहिंसा के आदर्श का पूर्णतया पालन का महाव्रत लेकर भूमण्डल पर विचरण करता है। तलवारों के प्रहारों और चन्दन के लेपों में अपना मध्यस्थ भाव बनाये रखता है। साधक का दिव्य अहिंसा व्रत आत्मदर्शन की महत्त्वपूर्ण साधना हो इसीलिये अन्तर और बहिरंग के समस्त दोषों को सर्वदा धोना होता है।

(२) सत्यः—

आत्मसाधक सत्य को भगवान मानता है। मन वाणी और काया से कभी भी असत्य और अप्रिय भाषण नहीं करता। सत्य आत्मसिद्धि का अमोघ उपाय और अनन्त शक्ति तथा उत्कृष्ट विश्वास की अव्यर्थ औषधि है। साधु सत्य का पूर्णतया पालन करने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ होता है।

मन से सत्य, सोचना, वाणी से सत्य बोलना और काया से सत्य का आचरण करना ही सत्य का पूर्ण रूप है।

(३) आचौर्य व्रत —

साधक किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार नहीं रखता, आवश्यक वस्तु स्वामी की आज्ञा लेकर उपयोग में लाता है, वह कभी भी किसी भी वस्तु को आज्ञा लिये बिना नहीं लेता है। मन, वाणी और काया से इस व्रत का पूर्ण पालन करता है।

(४) ब्रह्मचर्यार्थ साधु निम्न बातें स्मरण रखता है.—

शरीर श्रृंगार, रससेवन, नृत्य-गीत, स्त्री-संसर्ग, काम संकल्प, अंगोपांग-दर्शन, रूपावलोकन वृत्ति, पूर्वभुक्त काम भोगों का स्मरण, भविष्य में काम की चिन्ता और परस्पर रति संसर्ग—ये दस बातें साधक अपने महाव्रत की रक्षा के लिये निकट तक नहीं आने देता।

(५) अपरिग्रह महाव्रत'—

समस्त उपाधि चाहे वह घर के रूपों में हो या हिरण्य सुवर्ण के रूप मे, धनधान्य, द्विपद चतुष्पद तथा धातु के पात्र के रूप मे हो वह सदा के लिये इन समस्त परिग्रहों को मन, वचन तथा काया से छोड़ देता है।

कौड़ी मात्र का भी परिग्रह वह पास मे नहीं रखता। माया, असंग, अनासक्त, अपरिग्रही और अममत्वी होकर विचरण करता है।

साधु-धर्म की रक्षा के लिये जो उसे उपकरण रखने पड़ते हैं, उनपर भी वह ममत्व बुद्धि नहीं रखता।

यद्यपि मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है, किन्तु इस बाह्य परिग्रह के त्याग से आन्तरिक अनासक्ति का विकास होता है, इसलिये परिग्रह का त्याग आवश्यक है।

आन्तरिक परिग्रह १४ प्रकार का है:—

मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति,

अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ—इन सबका त्याग करना भी साधु के लिये आवश्यक होता है।

अन्तर और बाह्य परिग्रह को जो छोडता है, वही अपरिग्रही, निर्ग्रन्थ, आत्मसाधक तथा श्रमण कहलाता है।

(६) ईर्यासमिति —

जीवों की रक्षा करनेके लिये भूमि को देखते हुए गमनागमन करना ईर्या समिति कहा जाता है। समिति का अर्थ होता है पाप से निवृत्ति के लिये मन की प्रशस्त एकाग्रता।

(७) भाषासमितिः—

कठोर, पीडाकारी भाषा का त्याग; निर्दोष और हितकारी भाषा का प्रयोग करे। हित, मित, सत्य और पथ्य रूप से भाषण करना ही भाषा समिति है।

(८) एषणासमिति'—

निर्दोष शुद्ध आहार पानी आदि उपधि का ग्रहण करना एषणा समिति है।

(८) आदानभण्डपात्रनिक्षेपणसमिति,—वस्त्र, पात्र, उपकरण आदिको उपयोग पूर्वक ग्रहण करना और भूमि पर रखना ही आदान समिति है।

परिष्ठापनिकासमिति·—

मलमूत्र तथा भुक्त शेष भोजन और भग्न पात्र उचित यत्न के साथ एकान्त और शुद्ध स्थान पर परठना, परिष्ठापनिका समिति है।

(६) मनगुप्ति.—

आर्त, रौद्र कुत्सित ध्यानों में न पड़ कर संकल्प-विकल्पों से अपना मन हटा कर चिन्तन को लगाये रखना तथा मध्यस्थ भाव में स्मरण करना मनोगुप्ति है।

कायगुप्तिः—

उठने· बैठने, सोने, जगने में. यतना विवेक रखना, अशुभ व्यापारों को त्याग कर शुभ में काया को लगाना कायगुप्ति है।

(१०) कर्ण-इन्द्रिय का निरोध,

(११) चक्षुरूपान्त शक्ति,

(१२) घ्राण—सुगन्ध के प्रति उदासीनता,

(१३) रस—स्वाद की लालसा नहीं रखना।

(१४) स्पर्श—कोमल स्पर्श की इच्छा नहीं रखना।

(१५) भावसत्य—अन्त.करण का शुद्धि।

(१६) करणसत्य—वस्त्र-पात्र की प्रतिलेखना करना।

(१७) क्षमा—सर्वदा क्षमाशील बनना, प्रतिशोध की भावना नहीं रखना।

(१८) विरागत—लोभ, निग्रह।

(१९) छः कायों के जीवों की रक्षा।

(२५) संयम-योगयुक्तता,

(२६) वेदनाभिसहन, तितिक्षा. परिषह कष्ट सहिष्णुता सहन।

(२७) मारणान्तिक उपसर्ग को भी समभावसे सहन करना।

जैन श्रमण की आचार-पद्धति संसार में मुक्ति-साधना की कठोरतम प्रणाली है।

केशलुंचन, भूमि-शैय्या और शरीर उपेक्षित छ आवश्यक क्रियाएं करना।

(क) समता भाव (ख) दोषों की आलोचना (ग) गुरुवन्दन (घ) दोषों की आलोचना (च) शरीर के ममत्व का त्याग और समाधि (छ) चारित्र तप सम्बन्धी कोई भी नियम ग्रहण करना।

इन छः आवश्यक क्रियाओं द्वारा साधक अपनी आत्मा की विशुद्धि करता है। इसी प्रकार श्रावक को भी करना पड़ता है। सदैव समदर्शी, इष्टानिष्ट के योग मे तटस्थ, कषाय-रहित होकर साधु विचरण करता है।

शास्त्र-ज्ञान और सेवा-भक्ति द्वारा साधक शुभ से शुद्ध की ओर जाता है। शुभ और शुद्ध की अपेक्षा से साधक के दो भेद् किये गये हैं—सराग संयमी, और असराग संयमी। वीतराग बनना साधक का उद्देश्य होता है। इसीलिये वह पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं करता है।

पांच समिति अहिंसा महाव्रत की पांच भावनायें है।

सत्य महाव्रत की पांच भावनाएं—

विचार-पूर्वक बोलना, क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य का विवेक रख कर बोलना।

अस्तेय महाव्रत की पांच भावनाये—

(१) वस्तु के स्वामी से ही वस्तु की आज्ञा मांगना।

(२) अवग्रह के स्थान की सीमा का ज्ञान करना।

(३) स्वय आवश्यक वस्तु लाना।

(४) गुरुजनों की आज्ञा से सयुक्त भोजन में भोजन करना।

(५) उपाश्रय मे ठहरने से पहले साधर्मिक की आज्ञा लेना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाच भावनायें —

(१) स्निग्ध पौष्टिक आहार नहीं करना।

(२) शरीर की विभूषा नहीं करना।

(३) स्त्रियो के अगोपाग नहीं देखना।

(४) स्त्री, पशु, नपुंसक वाले स्थान को नहीं देखना।

(५) स्त्री-विषयक चर्चा नहीं करना।

अपरिग्रह महाव्रत की पाच भावनायें:—

शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—इन इन्द्रियों के विषयों पर, मनोज्ञ पर प्रीति और अमनोज्ञ पर द्वेष नहीं करना।

भावनाओं को महाव्रतों की रक्षा के लिये कहा है।

साधक की प्रत्येक क्षण ऐसी भावना रहनी चाहिये:—

हिंसा पाप है, उसका निश्चित परिणाम भी दुःख है। समस्त प्राणियों मे मैत्रीभाव रखना, गुणाधिकों में प्रमोद और दु:खी जीवों मे करुणावृत्ति, विपरीत वृत्ति वाले मनुष्यों में माध्यस्थभाव रखना भी साधक के लिये आवश्यक है।

क्षमा, मार्दव, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, इन दस प्रकार के धर्मों से साधक

प्रत्येक क्षण सुसम्पन्न रखता है तथा इन बारह भावनाओं का चिन्तन करता है।

१ संसार की नाशवान वस्तुओं को अनित्यरूप मे देख कर साधक अनित्य भावना भाता है। अनित्य की तरह अपने आपको अशरण समझना, निर्वेद (वैराग्य) की भावना को जागृत करना, चेतन और जड के भेद की प्रतीति द्वारा अपने शरीर का चिन्तन करना, शरीर की अशुचिता को देखना, इन्द्रिय भोगो मे अनिष्ट परिणामों को सोचना, दुर्वृत्ति को रोक कर सद्वृति को जगाना, सचित कर्मों को भोगने के लिये तैयार रहना, विश्व के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना, शुद्ध चारित्र और शुद्धदृष्टि की दुर्लभता का विचार करना, शुद्ध धर्म की कल्याणकारिता पर विचार करके प्रसन्न होना ।

इस प्रकार की १२ भावनाओं को मन मे आराधन करता हुआ साधक, तथा शीतोष्णादि समस्त कष्टो को सहन करता हुआ साधक मुक्ति का परम सुख प्राप्त करे।

साधक जीवन कष्टों का कण्टकाकीर्ण मार्ग है, पग-पग पर उसे कष्टों का सामना करना पडता है। भगवान महावीर ने साधक को कष्टों से सावधान करने के लिये कष्टों की गणना करते हुए बताया है·—

(१) क्षुधा (भूख)

(२) पिपासा (प्यास)

(३) शीत (ठण्ड)
(४) ऊष्ण (गर्मी)
(५) दंशमशक (मच्छर डांस)
(६) अचेल (वस्त्राभाव)
(७) अरति (कष्टों से डर कर संयमारुचि)
(८) स्त्री-परिग्रह
(९) चर्या (गमनागमन)
(१०) नैषेधिकी (स्वाध्याय भूमिका उपद्रव)
(११) शैया (शैया की प्रतिकूलता)
(१२) आक्रोश (दुर्वचन)
(१३) वध (लकड़ी आदि की मार)
(१४) याचना (मांगना)
(१५) अलाभ (भोजन नहीं मिलना)
(१६) रोग
(१७) तृण स्पर्श (नग्न पैरों को कष्ट)
(१८) जल्ल (मल का कष्ट)
(१९) सत्कार-पुरस्कार (पूजा-प्रतिष्ठा)
(२०) प्रज्ञा (बुद्धि का गर्व)
(२१) अज्ञान (बुद्धिहीनता)
(२२) दर्शन परिषह (सम्यक्त्व भ्रष्ट करने वाले मिथ्यात्वी का मोहक वातावरण)

—कर्मों की निर्जरा के लिये तथा आत्म-समता को बनाये

रखने के लिये साधक अपार कष्टों को सहन करता हुआ ही सच्चा श्रमणत्व पालन करता है। यह छेदोपस्थापन चारित्र का स्वरूप हुआ।

परिहारविशुद्धि चारित्र—

परिहार—विशुद्धि चारित्र साधक जब अपनी आत्मा को अधिक विशुद्ध और पवित्र बना लेता है और कर्मों की निर्जरा तथा आत्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिये किसी विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान आचार का पालन करता है तो उस सयम की उत्कृष्ठ स्थिति को परिहार विशुद्धि चारित्र कहा जाता है।

सूक्ष्मसम्पराय चारित्रः—

आत्म-साधना करता करता जब कषायों का उदय नष्ट कर देता है और सिर्फ लोभ का अश अतिसूक्ष्म रह जाता है उस आत्मा की पवित्र स्थिति को सूक्ष्मसम्परायचारित्र कहा जाता है।

यथाख्यात चारित्र—

जिसमें कषाय का बिलकुल भी उदय नहीं रहता, उसे यथा ख्यात चारित्र कहते हैं। यह आत्मा की साधना का अन्तिम स्वरूप है। आत्मा चारित्र द्वारा अपनी आत्म-स्थिति को प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

———————

: मुक्ति :
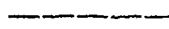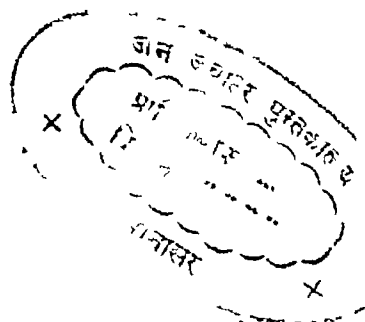
भाइयो और बहनो !

जन्मान्तरों के निरन्तर शुभ कर्मो का फल मनुष्य जन्म है। मनुष्य जन्म की सफलता इसमें है कि मनुष्य सतत शुभ कर्मो में लगा रहे। कर्म शुभ और अशुभ दो भागो मे विभक्त है। शुभ कर्मों से पुण्य की प्राप्ति होती है। शुभ कर्म ही वह साधन है जो मनुष्य को मुक्ति की ओर ले जाता है। साधक साधन के विना सफल नहीं हो सकता। शरीर मिला किन्तु वह निरोग नहीं तो किस काम का। मनुष्य जीवन में शुभ कर्म नही किये तो वह जीवन रोग युक्त शरीर के समान है।

इसलिये मनुष्य जीवन रोग से निरोग की ओर, मृत से अमृत की ओर, अशुभ से शुभ की ओर और अशुद्ध से शुद्ध की ओर जाने के लिये है।

सब दर्शन कर्मो को मानते है। अन्तर उनके सम्बन्ध मात्र पर है। यदि कर्म नैमित्तिक हो तो वे आत्मा से अलग कैसे ? लेकिन वास्तव में कर्म आत्मा से अलग हैं।

पानी से पानी तत्त्व अलग नहीं निकाला जा सकता। मिश्री का मिश्रीत्व भिन्न नही किया जा सकता।

हमारा सिद्धान्त मतों को समझ कर, अखण्ड सत्य की ओर जाना है। सत्य को समझना है।

विश्वकर्मा की दो लड़कियां थी—माया और मुक्ति। विश्वकर्मा जब वृद्ध हो गया तो उसने सोचा कि अपनी सम्पदा और राज्याधिकार को दोनों पुत्रियों में बाट दूं ताकि मेरे पीछे कोई बखेड़ा न हो।

उसने दोनों को बुला कर कहा—जो चाहो सो मांगो।

मुक्ति ने जीव का लोकोत्तर भाग मांगा। उसे वह मिल गया। जो जीव शुभ कर्मों की साधना और भक्ति एवं त्याग करते हैं, वे मुक्ति के लोक मे जाते है।

किन्तु मुक्ति आज अन्धविश्वासियो ने बडी सस्ती बना दी है। ज्ञान भक्ति एव बुद्धि के विना अन्धा है और विश्वास ज्ञान के विना अन्धा है। सारे दुख का कारण त्रिदोष है। विषमावस्था के कारण कष्ट है। विश्वास बना रहेगा तो कल्याण असम्भव है। कल्याण चाहिये तो अखण्ड सत्य पर विश्वास कीजिये।

वस्तु के पर्याय बदलते हैं पर मूल मे वह एक रहती है। सोने के अनेक प्रकार के आभूषण बन जाने पर सोना नहीं बदलता। पर्याय से नाम बदलते हैं। भाषा, नियम और स्वरूप आदि आज भी और कल भी लोक व्यावहारिक सत्य हैं, लेकिन आत्मा पर इनका प्रभाव नहीं पडता। आत्मा शुद्ध है उससे कर्म का सम्बन्ध प्रवाह रूप में है।

जीव और कर्म का सम्बन्ध है। निश्चिन्त होकर बैठने से काम नहीं चलता। यदि निश्चिन्त होकर नियतिवादी बन कर

वैठना है तो पुरुषार्थ किस कामका ? कानजी कहते हैं--होनहार ही दिखता है। पर होनहार पुरुषार्थ के आधार पर खड़ा है।

एकांगी दृष्टिकोण गलत है। हरएक चीज एक न एक दृष्टि से सत्य है। प्रत्येक वस्तु गुण-दोषमय है। जड-चेतन गुण दोषमय है।

यदि होनहार ही है तो होना किसके आधीन है? पुरुषार्थ किसके आधीन है ? जीव प्रकृति के, आत्मा के, आत्मा कर्म के। किसके आधीन है। आज का पुरुषार्थ भावी का होनहार है। पिछले कार्यों से फल की सम्बद्धता और फल का सम्बन्ध ही होनहार है। सभी जीव अपने कर्म के चक्कर को वदल देते हैं। पिछला पुरुषार्थ कर्म है, अगला जीवन है, जीवन को जीवित रखने वाला है। पुरुषार्थ से प्रवल नहीं है होनहार। वह पुरुषार्थ के आधीन है, स्वाधीन नहीं है। उपादान मुख्य है। उपादान की अभिव्यजना है -पूर्ण सत्य की प्राप्ति करो। तीनों का समन्वय करो। इस सम्बन्ध में शान्ति, सुख, संतोष और मुक्ति है।

'श्रद्धावान् लभते ज्ञान'—अश्रद्धालु को ज्ञान ज्योति प्राप्त नहीं होती और ज्ञान विना चरित्र नहीं, ज्ञान व चारित्र नहीं तो दर्शन कहां से आयेगा ?

जितना जितना मिथ्यात्व है वह क्रिया और कर्म काण्ड में विश्वास करता है। वाह्य पाखण्ड और ढोंग उसका जीवन है। सत्य को सहारे की जरूरत नहीं पड़ती। वह अकेला ही सभी

मंजिले काट लेता है। लेकिन असत्य और मिथ्यात्व अकेले चलने से घबड़ाते है। जैसे चोर दिन में छिप कर रहता है और बाहर आने में डरता है, वैसे ही मिथ्यात्व और असत्य अकेले रहने से सामने आने से हिचकिचाते है।

असत्य जितना बडा होगा, उसका आडम्बर भी उतना ही बडा होगा।

बड़े बड़े चिमटे, धूनियां और मालाएं थाम कर चलने वाले साधुओ को देखिये। अणुव्रत और हिमालय व्रत का दिनरात प्रचार करने वाले योगियों को देखिये। जीवन की सीधी-सादी सच्चाई, सेवा त्याग और प्रेम के संगम को छोड कर वे छोटे से पोखर मे स्नान करके अपने को पुण्यशाली समझ कर फूले नहीं समाते।

मिथ्यात्व और आडम्बर लम्बे-लम्बे लबादे पहने, तिलक छाप लगाये और मुक्ति लोक मे भेजने के परवाने लेकर आता है, लेकिन उसका अन्त उतने ही बडे आडम्बर में होता है। जितना बडा मुर्दा होता है, उतनी ही बडी चिता भी होती है।

मिथ्यात्व से बचने के लिये आपको चाहिये कि सत्य को समझे, सम्यक् ज्ञान सत्य की ओर ले जायेगा।

भाइयों! विश्वकर्मा की दूसरी बेटी माया का जो उदाहरण मैंने ऊपर दिया है, उसके जाल से बचिये। 'माया महा ठगिनी हम जानी'—कबीरदास जी ने कहा है कि माया मोह

बड़े ठगिया है। जो इनसे बच गया वह बच गया नहीं तो अनन्त काल तक दुख देखता है और नरक की यंत्रणाए सहता है।

सत्य की खोज करने के लिये दूर भटकने की आवश्यकता नहीं। आपको अपनी आत्मामे ही सत्य का निवास है। उसकी ज्योति को सद्ज्ञान से जाग्रत कीजिये और अखण्ड आनन्द को प्राप्त कीजिये।

कबीर ने एक जगह इसी आशय को लेकर लिखा है—
'काहेरि नलिनि, तू कुम्हलानी, तेरे ही सरोवर पानी!'

तेरे सरोवर में ही तेरी आत्मा में ही परम तत्व परमात्मा निवास करता है, फिर भी जीव तूं क्यों भटक रहा है? तू नलिनि के समान पंक से—माया के पंक से, जरा ऊपर उठा कर देख, तेरा राम तुझमें रम रहा है।

भाइयों! मुक्ति के लिये मोह को छोड़ कर अपनी आत्मा को ज्ञान और चरित्र से उज्वल कीजिये। आपका मार्ग आलोकित होगा। आपको परम प्रकाश मिलेगा। माया को अज्ञानपूर्ण अन्धकार आपके सामने से हट जायेगा और आप आनन्द की अमर स्थिति में मुक्ति लोक में प्रविष्ट होंगे। वहां प्रेम ही प्रेम है। कोइ अवरोध बाधा या बन्धन नहीं है। प्रेम में बन्धन नहीं होता है। माया मोह में बन्धन है। वे स्वयं सबसे बड़े बन्धन है। इन्हें तोड कर प्रेम का पन्थ अपनाइये, आप सीधे मुक्ति के मंगलमय महालोक में पहुचेंगे।

अब प्रेम का अमृत भरा प्याला पीजिये। 'स्वयं पीकर धरम कीजिये। जो मोह में खुद मर रहा है, वह दूसरों को भी क्या करेगा। प्रेम ही जीवित रखता है, क्योंकि वह मीठा है, मोह कडवा विष है। इसलिये—'यह मीठा प्रेम पियाला, कोई पियेगा किस्मत वाला।'

: नारी का महत्त्व :

आदि काल से नारी ने अपने त्याग, प्रेम, श्रद्धा तथा चारित्र बल से संस्कृति का उन्नयन किया है, नारी के मातृत्व से मानव का जन्म हुआ है, और नारी के प्रेमामृत से मानव जाति का नियमन हो पाया है। भारत की नारी ने अधिकार-लिप्सा को ठुकरा कर, समर्पण पर विश्वास किया है, भारत की नारी का एकमात्र आदर्श रहा है—कर्तव्य पालन। वह आज तक अपनी उदारता और मधुरता से मानव के दिव्य तेज को जागृत करती आई है। वही नारीका नारीत्व आज क्लब, सिनेमा, कालेज, ब्यूटि शाप्स्, फेंसिफेयर, फ्लावर शो, बेबी शो और पार्टियों में विकसित नहीं होगा, अपितु उसका वर्चस्व उसकी लज्जा और शील वृत्ति में ही है, विकसित हो सकेगा। नारी अनादि कालसे मानव इतिहासकी प्रधान नायिका रही है। अनेकों राष्ट्रों का उत्थान-पतन नारी को लेकर हुआ है। वह शान्ति और चिनगारी के दोनों रूपों को लेकर संसार में अपना अभिनय करती रही है। किन्तु आज आर्य नारी तथा पाश्चात्य सभ्यता के फेर में पड़ी नारी के आदर्श परिवर्तित हो गये हैं।

जहां आधुनिक नारी अधिकार प्राप्ति के लिये बेचैन हो उठी है वहां भारत की नारी कर्तव्य पालन का ही आदर्श सामने रख कर चलती आई है।

हमें कहना होगा कि नारी ने अधिकार-लिप्सा में अपने नारीत्व को—मातृत्व को खो दिया है, चारित्र और शील को ठुकरा दिया है। वह पार्टियों में और प्रदर्शन की प्रवंचनाओं में इतनी उलझ गई है कि अपने सर्वस्व शील को, अपनी चमक दमक को, तेजस्वी तथा वर्चस्वीपन को सर्वथा लुटा बैठी है।

भारत की नारी:—

वेदकाल से भारत की नारी ब्रह्मचारिणी, ब्रह्मवादिनी तथा ब्रह्मवेत्री के पद से विभूषित होती आई है। इन्द्राणी अदिति, रंभा, भारती, होत्रा, श्रद्धा ये ऋग्वेद की ब्रह्मवादिनिएं हो चुकी हैं और उधर जैन धर्म मे भगवान ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी आदि ब्रह्मवादिनी महासतियें। सीता से लेकर चन्दन बाला तक का समूचा इतिहास नारी के ज्वलन्त त्याग और प्रेम, श्रद्धा, समाज-सेवा, आत्म विकास और तप से भरा पड़ा है।

जैनधर्म ने आत्म-विकास और विश्व उद्धार का झण्डा नारी- ब्रह्मचारिणी और महासतियों के हाथों में सौंपा है। जैन-धर्म आग में जल जाने को सती नहीं मानता, अपितु अग्नि तो स्वयं सती का तेज है। सती अपनी देह को नहीं जलाती, अपितु अपने तपाग्नि में मानव जाति की कलमषता को जला कर राख बनाती है।

वैदिक धर्म में सती को आदर्श ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी, गार्गी की तरह आत्म विकास और पति सेवा को स्वीकार किया

गया है। आप निश्चित ध्यान रखिये कि भारत को रसातल में जाने से अगर किसीने रोका है तो नारी की श्रद्धा शक्तिने ही।

जब तक आर्यावर्त की नारिया शील और श्रुत से सम्पन्न रहेंगी उनकी आखें जमीन की ओर और मन परमात्मा की ओर रहेगा, तब तक इस देश और आर्य संस्कृति को कोई भी आंच तक नहीं पहुंचा सकेगा।

अतीत इसका साक्षी है। नारी चाहे ससार में रहे या गृह-लक्ष्मी बन कर रहे, किन्तु उसे अपने स्थायी और श्रमसाध्य अपूर्व गुणों का त्याग नही करना चाहिये।

दु ख है कि अशिक्षा, कुरीति, कुपरम्परा और कुशिक्षा ने भारतीय नारी पर ही अपना बलपूर्ण पजा जमाया है। मैं अपनी शीलवती बहनों और धर्म माताओं से कहूंगा कि वे कलह, निन्दा, ईर्ष्या, मद विलासिता, शौकीनी, फिजूलखर्ची, गर्व, अभिमान, दिखावा, विवाद, मजाक, वाचालता, कुपथ्य, मोह कुसंग, आलस्य और व्यभिचार आदि दुर्गुणों को अपने में नहीं आने दें। नारी तो साक्षात् भगवती का अवतार है। वह मा है, नियामक और नियन्ता है, किन्तु भोग्या अथवा स्वैरिणी तथा विलासिनी नहीं है।

आज अशिक्षा ने नारी को वस्त्रों की गुड़िया, परम्पराओं की पुतली तथा रीति रिवाजों का शिकार बना दिया है और दूसरी ओर नारी को मातृत्व से हीन, श्रद्धासे हीन और त्याग से हीन कर दिया है।

आज मानव के घर गृह-लक्ष्मियों के अभाव में बिखर रहे हैं। नारी का शील शर्मा रहा है। कामुकता, विलासिता, घर में व्याप्त होती जा रही है। आज की नारियों के तीर्थधाम फंक्शन हो गये और देवियां अभिनेत्रियां बन गई। आखिर इस प्रकार नारी नारीत्व को खोकर स्वाभिमान पूर्वक जी नहीं सकेगा। एक दार्शनिक ने कहा है कि पुरुष नारीत्व को प्राप्त करके तो भगवान बन जाता है और नारी कोरे पुरुषपन को पाकर भयंकर पिशाचिनी।

मुझे कहना पड़ेगा कि नारी मातृत्व पद को पाकर खो रही है। वह विस्मृतता, मूर्च्छितासी हो गई है। उसके मनमें संशय, विषाद, दु:ख घर कर गया है। लावण्य, शील और सौन्दर्य नष्ट हो गया है, यदि उसे गृहलक्ष्मी बनकर जीना है तो अपने हृदयमें प्रेम, आंखों में स्नेह, बुद्धि में विवेक और आत्मा मे त्याग की प्रतिष्ठा करनी होगी। कर्तव्य परायणता की दीक्षा लेनी होगी और उसे यदि ब्रह्मवादिनी बनना है तो अपने आत्म ब्रह्म को जागृत करना होगा। ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर त्याग, श्रद्धा और सेवा से आत्म-विकास के साथ साथ विश्व उद्धार भी करना होगा, यही भारतवर्ष की नारी का इतिहास है। नारी परम्परा है—गृहलक्ष्मी—अथवा महासतियें, माँ—ब्रह्मवादिनी। यही नारी का आदर्श है।

———

: समय की पुकार :

उपस्थित श्रोतागणों, भाइयो, माताओं और बहनों !

आज का विषय है, समय की पुकार। गुजराती में इसीको समय नो हाकल और उर्दू में वक्त की आवाज कहेंगे, यह सब शीर्षक परस्पर सम्बन्धित हैं। शीर्षक के अर्थ को आप लोग जानते हैं और यह भी समझते हैं कि वह किस विषय पर केन्द्रित है।

अब आपके मन में प्रश्न उठेगा कि क्या समय भी बोलता है। समय की हाकल आपने सुनी है ! समय भी क्या पुकार करता है ? इस प्रकार आपके मन में अनेकों प्रश्न हैं। लेकिन आप सब सहमत होंगे कि समय पुकारता है, पुकार करवा देता है। आदि विषय के प्रपंच में न पड कर हमें देखना है कि समय की पुकार एक सार्थक शब्द है। हमारा उद्देश्य है कि आजका समय सबसे क्या अपेक्षा रखता है ! और इसके लिये हमारे विचार क्या हैं और कहाँ कहां केन्द्रित हैं ?

जैन-परम्परा का पुराना इतिहास इस बात का साक्षी है कि इतिहास समय के अनुरूप विकास करता जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके सूत्र सदैव रहेंगे। जब आप रोममें हैं तो रोम देश की प्रथा के अनुसार काल को देख कर सब चाल चलना है। अतएव काल की पुकार सुनो और उसकी अनुकूलता—

प्रतिकूलता जान कर आगे बढ़ो। आज केवल काल शब्द लिया गया है। शास्त्रका काल—' तेणं कालेणं तेण समयेण" का सूत्र अब भी हमारे सामने हैं।

भाइयो! समय की अपनी कहानी होती है और हर काल की कहानी अलग अलग होती है। यह कहानी दूसरे काल में प्रविष्ट होकर परिवर्तित हो जाती है। प्रत्येक विभिन्न युगों की कहानियों मे साम्य नहीं। हर कालकी अपनी अपनी कहानी है और प्रत्येक काल की कथा नई होती है।

आपने सुना है—धार्मिकों के बिना धर्म का अस्तित्व नहीं। और धर्म कार्ल मार्क्स का कहा—अफीम नहीं है, वह अमृत है। लेकिन जो धार्मिकजन समय—काल को नहीं देखते, वे कदापि अपनी रक्षा नहीं कर सकते। फिर भला, धर्म की रक्षा वे क्या करेंगे। समय-धर्म को पहचानिये। समय-धर्म कह कर पूर्वजों ने समय का महत्ता प्रदर्शित की है। समय का मात्र भौतिक मूल्यांकन ही न कीजिये वरन् उसकी नींव पर भविष्य की रचना भी कीजिये। फिर भी समय बदल जाता है, परिवर्तनशील है, पर परम्परा नहीं बदलती। परम्परा सत्य, शाश्वत एवं शुद्ध है। अब जरा हम यह देखें कि हम अपनी परम्पराओं की रक्षा कहां तक कर रहे हैं। दूसरे सम्प्रदाय का प्रश्न नहीं यहां तो अपना ही सवाल है।

धर्म के प्राचीन सिद्धान्त हैं, जिन्होंने धर्म की रचना की है, वे पवित्र सिद्धान्त प्राचीन हैं। लेकिन जितने पवित्र एव प्राचीन

है उतना उनमें परिवर्तन भी लोगों ने कर दिया है। आप आश्चर्य करेंगे कि यह परिवर्तन किन्हीं दूसरे व्यक्तियों ने नहीं, बाहरी जाति के लोगों ने नहीं; स्वयं जैनियों ने ही कर दिया है। अहिंसा जैनधर्म की आत्मा है। स्वयं भगवान महावीर की अमृत वाणी द्वारा अहिंसा का वातावरण विश्व में विकसित हुआ है। लेकिन ऐसे भी कुछ सज्जन है जिन्होंने इस पारम्परिक, पवित्र अहिंसा में भी परिवर्तन कर दिया है।

अब इस परिवर्तन को आपको समझ लेना है और इसलिये तैयार हो जाना है कि ऐसे समय आपका क्या कर्तव्य है यानी आपको समय की पुकार सुन कर उसके अनुसार प्रस्तुत हो जाना है। क्योंकि सिद्धान्त परिवर्तित हो जागेंगे तो उनका कुछ भी मोल नही रहेगा। हजारों वर्षों से साधुओं ने जिन सिद्धान्तों का सरक्षण-पोपण, अपनी तपस्या एवं बलिदान द्वारा किया है, आज उनकी रक्षा का प्रबन्ध प्रबल हो उठा है।

सिद्धान्तो मे परिवर्तन करके भी परिवर्तनकार हमारे प्रश्नों का उत्तर नही देते। यदि उत्तर नही दे सकते तो साफ जाहिर है कि उनके सिद्धान्त कमजोर है और वे भ्रम में भटक रहे है।

यदि एक व्यक्ति एक सिद्धान्त का प्रेमी-प्रचारक हो और दुनियां मे यदि सब व्यक्तियों का एक ही सिद्धान्त हो तो कहीं विरोध नहीं रह जायगा। भला अहिंसा के पवित्र सिद्धान्त मे किसी के विवाद की आवश्यकता कहां! साफ बात है कि

अहिंसा रक्षण करती है और रक्षण करना सिखाती है। लेकिन इस सिद्धान्त में कुछ लोगों ने अपनी अक्ल लगाई है और उसे बदल कर यह आशय निकाला है कि अहिंसा रक्षण नहीं करती। रक्षण करना तो पाप है। जहाँ रक्षण में हमें पुण्य बतलाया गया है, वहाँ दूसरों के कोष में १८ पाप बतलाये गये हैं।

यद्यपि उनके और हमारे सम्प्रदाय भिन्न हैं फिर भी वे भी जैन और हम भी जैन है। जैन नाम की रजिस्ट्री नहीं करवाई गई किन्तु श्वेताम्बरी जैन है या दिगम्बरी या तेरहपंथी ही जैन है। सब जैन कहलाते हैं।

लेकिन हमें इस जैन शब्द को समझना और समझाना है। सिद्धान्तों की जहाँ हत्या हो रही हो वहाँ हमारा कर्तव्य है कि उनकी रक्षा करना। दूसरे और अपने सम्प्रदाय का संगठन हम भी चाहते हैं। एक हो जाओ, समय की प्रबल पुकार है लेकिन इसका सबसे पहले अपने सिद्धान्तो की रक्षा के लिये हमें प्रयोग करना है।

एक होने में अनेक रास्ते है। कौनसा रास्ता आप अपनाओगे। क्या अपने सिद्धान्तों का खून कर विरोधियों से मिल जायेंगे। उनसे सहमत होकर उनका संगठन पायेंगे! आप क्या दूसरों की फिजूल बात को बिना सम्मत तर्क के स्वीकार कर लेंगे।

दूसरा तरीका है, दूसरा रास्ता है, सामने वाला हमारी

बात स्वीकार करें। विवाद द्वारा समझौता। अपनी अपनी कमी दूर करें और सच्चे मार्ग के अनुगामी बने। लेकिन मेरा कहना है गिरने के बाद समझौता गुलामी है। सिद्धान्तों की हत्या ठीक नहीं।

मैं सहमत हूं कि रक्षा के साथ एकता बढ़े। मगर धर्म की रक्षा समय समय पर न की गई तो बाद में वह न हो सकेगी। वर्षा ऋतु के पहले आप अपने घर, भवन, मकान को देखते हैं, उनकी दुरुस्ती और मरम्मत करवा लेते हैं कि कहीं से पानी तो नहीं टपकता है।

इसी प्रकार हमें काल और समाज की चाल को देखते हुए अपना हाल ठीक कर लेना है। इसमें एकता कही भंग नहीं होगा। उल्टे उसकी वृद्धि होगी। एकता के लिये भवन का भंग ठीक नहीं। अपनी तैयारी घातक नहीं है। एकता के लिये किये जाने वाला प्रयास विपक्षी को दबाये नहीं। दबा कर अनजान में ली गई स्वीकृति—स्वीकृति नहीं है। एकता समानता से आती है। दबाव का परिणाम फूट और गुलामी में प्रकट होता है।

स्थानक वासियों के अपने सिद्धान्त हैं। उनसे आप सब सहमत है। दूसरा एक और सम्प्रदाय है जो हमारी परम्परा से मेल नहीं खाता, वह विरुद्ध दिशागामी है। पृथक् पथगामी है।

अपने यहाके साप्ताहिक को आप पढ़ते होंगे उसमें इसी

सप्ताह आपने पढ़ा होगा। एक लेख छपा है। जिसके चित्र वाले जैन साधु के लिये लिखा गया कि इन्होंने २८ वर्षों से स्नान नहीं किया। कपड़े नहीं धोये। ये साधु बाहर से भोजन लाकर खाते है। इन बातों को लाखों व्यक्तियों ने पढ़ी होंगी। अब यदि कोई व्यक्ति स्थानकवासियों को कपड़े धोते देखेगा तो क्या कहेगा! या तो हम लोग इस प्रचारका उत्तर दें अथवा उसे ज्यो का त्यों मान लें।

अखबारी प्रोपेगण्डा साधुओं का काम नहीं! उन्हें सेवा करना है - निस्पृह निष्काम। यदि वे शहरों में सेवा के सद्-उद्देश्य को लेकर नहीं रह सकते तो वे वनों में चले जाय। एक ओर जो जैन परम्परा है—उन्ही पर, उन्ही कपड़े धोते साधुओं पर निर्भर है तो शेष क्या असाधु है?

अन्य जैन सम्प्रदायों मे भी साधु है। मैं उनके विषय में कहना चाहता हू पर इतना ही कहूंगा कि धर्म की मर्यादाओ के बाहर वे सिद्धान्तों के विरुद्ध जा रहे हैं। जैनधर्म के प्रचारार्थ चाहे जो करे। हमें इसमे कोई उज्र नहीं। लेकिन सिद्धान्तों की हत्या न हो।

इसलिये जैसा कि पहले मैंने बतलाया, बरसात के पहले छत की मरम्मत करना है। समय आ रहा है कि एक होकर उठें और भावी तूफान आंधी और बरसात से धर्म भवन की रक्षा करे।

वे जैन कहलाने वाले साधु दान के विरुद्ध हैं और कहते हैं

यदि दान दिया भी जाय तो साधुओं को ही दें। भला महानुभावों आप ही बतलाइये, साधुजन दान लेकर क्या करेंगे? चारों धर्मों में दान-श्रेष्ठ एवं उत्तम माना गया है, लेकिन वास्तविक दान क्या है। इसे भूल कर, भ्रम में डाल कर दान धर्म के अर्थ बदल कर जनता को गुमराह कर रहे हैं।

इसी प्रकार शील के अर्थ और व्याख्या भ्रमपूर्ण बना कर असहाय स्त्री की रक्षा में भी सोच विचार करने लगे हैं। ऐसा कौन ज्ञानी पुरुष है जो सती पर होता बलात्कार देख कर भी चुप बैठा रह जायगा। यथाशक्ति व्यक्ति अबला की रक्षा करेगा। उस सम्प्रदाय विशेष का उद्देश्य का सिद्धान्त है सती पर होता बलात्कार रोकना नहीं, उसमें अन्तराय न डालना। भला ऐसे लोग जो भावना और तप की बात करते हैं कितने गलत है। जयपुर की एक घटना है। एक मकान में सम्प्रदाय विशेष के कथित जैन साधु बैठे थे। एक नौकर वहां दिया लगाते जल मरा, चिल्लाया पर वे साधु जन उसकी सहायता को न दौड़े। चुप देखते रहे। लोगों के पूछने पर बतलाया कि उस छोकरे के कर्म ऐसे ही थे। यदि उसे बचाते, आग से निकलने का रास्तो बताते तो हमारा सयम नहीं रहता और यदि बच जाता तो आजीवन जो पाप करता वे सारे पाप हमें लगते।

भला अब ऐसे ऐसे लोग धर्म की नीच को मूल भूत सिद्धान्तों को बदल रहे हैं। धर्म का सत्य स्वरूप कैसे स्थापित रह सकता है?

हमने अपने और आप जैसे श्रद्धालु श्रावकों के प्रयत्न से कत्लखाना वन्द करवाया है, अन्य स्थानोंमें भी प्रयास चल रहे है, लेकिन वे लोग जीवदया में भी पाप मानते हैं। उनके अनुसार तो हमने पाप के गट्ठर बाध लिये हैं। आज रक्षा करना क्या पाप बन जायगा ?

इन्हीं झमेलों में धर्म सिद्धान्त पड गये है। ये प्रपच १८० वर्षों में पैदा हुए है। साधुजी के एक शिष्य थे। महाराज बाहर जा रहे थे तभी मकान में कुतिया ने वच्चे दिये। महाराज ने शिष्य से कहा—मैं जा रहा हू। कुत्तों की रक्षा करना। इसी बीच कुत्ता आकर बच्चों को मार गया, शिष्य देखता रहा और उसने उन्हें बचाया नहीं। यह सोच कर वह चुप रहा कि भावी पाप मुझे लगेगा।

ऐसे साधुओं ने ही सिद्धान्तों की हत्या की है। भगवान ने अनुकम्पा को वडा महत्त्व दिया है।

अनुकम्पा से भाव शुद्धि होती है। लेकिन जैसे धर्म के विभीषणों द्वारा जैनधर्म के दो रूप वनें। भगवान ने स्वयं गोशलक की रक्षा की थी। किन्तु ये लोग कहते है, भगवान् चूक गये। हम इन लोगों के सिद्धान्त परिवर्तन की नीति को बर्दाश्त नहीं कर सकते, न करेंगे। सिद्धान्त की रक्षा प्रथम कार्य है। कोई माली ऐसा नही है जो बाग को नष्ट होने दे। माली खुश होता है कि फूलों की खुशबू ले। पौधे न उजड़े,

फूलों का रक्षा हो। इसी प्रकार हम सब संघ की रक्षा चाहते हैं। सघ का निर्माण धर्म की रक्षा हित है।

इसलिये संघ बना कर धर्म की रक्षा करें। धर्म-विरोधी गोशालक को जब कुण्डकोलिया श्रावक ने हरा दिया तो भगवान ने प्रसन्न होकर कहा—धन्येसि कुंडकोलियाण तुमं!

धर्म की रक्षा श्रेष्ठ कार्य है। धर्म टिका रहेगा तो सब ठीक होगा। धर्म न रहेगा तो कुछ न रहेगा। धर्म के संरक्षण के लिये कटिबद्ध हो जायं।

"यतो धर्मस्ततो जय।"

: जाने वालों से ! :

ओ जाने वाले भाइयो और बहनों !

ओ जाने वाले जरा रुक जा ! कहने से जाने वाला रुकता नहीं। बड़ी आवाजें देते है बारम्बार पुकारते है, चिल्लाते हैं, परन्तु वह नहीं रुकता, नही सुनता। वह मर गया है, ससार छोड़ कर चला गया है।

जाने वालों ! आपको खबर नहीं कि आप आने के साथ ही दुनियाँ में जाने वाले कहलाये ! और मौत मनुष्य की सबसे बडी हार कहलाई। आज विज्ञान का जमाना है। मनुष्य कहते हैं—विज्ञान के बल पर बडी उन्नति कर ली है, पर इस उन्नति के साथ में मैं साफ कह देना चाहता हू कि उसमे मनुष्य का भय भी प्रबल हो गया है। पहले आदमी मौत से इतना भय-भीत नहीं था, आज बावजूद सारी सुरक्षात्मक तैयारियों और ज्ञान-विज्ञान की प्रगतियों के व्यक्ति मौत से थर-थर कांप रहे हैं। यही है न आपके विज्ञान की देन ! पहले का समय—धार्मिक युग था। धर्म समाज का संरक्षक था, क्योंकि समाज और उसके सदस्य धर्म का पालन करते हैं। तब मनुष्य को मृत्यु और घात का इतना भय—आघात, नहीं था। वह धर्म-राज्य में धार्मिक बन कर निर्भय विचरता था। जब हाल यह है तो कैसे कह सकते हैं कि आपने उन्नति कर ली है। यदि प्रति-

दिन नये नये आविष्कारों के साथ आपका भय बढ़ता जाता है, तो कैसे माना जा सकता है कि आप प्रगति पथ पर अग्रसर हैं।

इसलिये जाने वालों, रुको और जरा सुनो! मृत्यु अनिवार्य सत्य है, अवश्यम्भावी है। उसने किसीको न छोडा। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, पडित, ज्ञानी, नेता और मत्री सभी सिर झुकाये सब उसकी राह चले। बाइबल मे कहा है —

इसलिये आने से पहले कुछ सुन लें, समझ लें। और जाने से पहले अपनी ओर से कुछ दे जाय। जिस दुनिया से आजन्म इतना लिया करते है, उसे जाते वक्त देते जाना क्या आपका कर्तव्य नही है। यदि इस कर्तव्य को पूरा नही करते तो, कृतघ्नता का कलंक टीका स्वीकार करना होगा और कृतघ्नता कितना बड़ा पाप होता है, यह आप जानते हैं।

शेक्सपीयर ने कहा है:—ऐ शीत की हवा बह, तू इतनी अकृतज्ञ नही है, जितना एक कृतघ्नी का दिल।

भाइयों, क्या आपमें से कोई कह सकता है कि मैं यहीं इसी दुनिया में या इसी शहर--बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली में रहूगा, मरूंगा नहीं। मैं रहने वाला हूं। यदि कोई ऐसा कहे तो आप उसे मूर्ख मानेंगे। क्योंकि —

> माली आवत देखिके कलियन करी पुकार,
> फूले फूले चिन लिये, कालि हमारी बार!
> हाड जले ज्यूं लाकड़ी, केस जले ज्यूं घास,
> जलती दुनियां देखि के, कबिरा भया उदास।

इतना सावधान तो रहना ही पड़ेगा। जाने की तैयारी भी रखनी पड़ेगी और एक न एक दिन इन्हीं सात वारों में से एक दिन—सोमवार से रविवार तक जरूर जाना पड़ेगा! इस बात को ध्यान में रख कर कार्य करना चाहिये और ऐसा करना चाहिये कि जाने के बाद लोग याद करें। यदि ऐसा कुछ न किया गया तो बारम्बार जन्म तो लेना ही है, इस दुनियां से फिर काम पड़ेगा।

पुनरपि जनन, पुनरपि मरण मे
पुनरपि जननी जठरे शयन मे।

शकर का यह वाक्य है। इसे भूल न जाइये। जिस तरह शक की दवा लुकमान हकीम के पास भी नहीं है उसी तरह मौत की दवा बड़े-बड़े डाक्टरों और वैज्ञानिकों के पास नहीं। इस विषयक एक प्रसंग सुनिये —

भगवान बुद्ध के पास एक विधवा स्त्री आई, जिसका इकलौता पुत्र मर गया था। इस स्त्री को गांव के लोग यह समझाते थक गये कि तेरा बेटा मर गया है। अब जिन्दा न होगा, पर वह मानती न थी। तब दूसरे दिन समझदारों ने कहा—'जा बुद्ध के पास जा', वे तेरे पुत्र को अच्छा कर देंगे, इसे मरने की बीमारी हो गई है।

वह स्त्री बुद्ध के पास गई और अपने पुत्र को अच्छा कर देने की बारम्बार प्रार्थना करने लगी। बुद्ध ने देख लिया कि यह स्त्री महा मोह में पड गई है। इसे राह दिखाना होगा।

बोले—जरा सरसों ले आ, पर ऐसे घर से लाना- जहां कोई मरा न हो।

स्त्री बडी प्रसन्न होकर दौडती हुई गांव में आई, चारों ओर फिरी, पर कही उसे ऐसा घर न मिला जहां कहीं किसी की मृत्यु न हुई हो। इस घटना से उस शोकाकुल स्त्री का शोक कम हुआ। मोह का जाल कुछ टूटा और मृत्यु का रहस्य उसने कुछ समझा। इसलिये मृत्यु के रहस्य को जान लें, क्योंकि आप और हम सब मृत्यु के मार्ग पर दौड रहे हैं। मृत्यु का मार्ग ऐसा है, जिस पर संसार के सारे प्राणी आंखें बन्द करके चल रहे हैं। मनुष्य मौत के ही रास्ते पर कुशलता एवं सफलता पूर्वक चल सकता है। इस आपके शरीर में मृत्यु का निवास है। मृत्यु आपकी परछाई है, जहा आप हैं वहां मृत्यु है। जहा आप जाते हैं वहां मृत्यु भी आपके पीछे पीछे जाती है।

नौ द्वारे का पिंजरा तामें पंछी पौन,
रहिबे में अचरज महा, गये अचम्भा कौन।

जाने में कौन सी विचित्र बात है, यह तो रोज का व्यापार चक्र चल रहा है, एक आता है, एक जाता है। मृत्यु सबका विनाश कर देती है। एक सद्कर्म और उनसे प्राप्त कीर्ति ही ऐसी हैं जिनका मृत्यु विनाश नहीं कर सकती।

संसार के अनेक पंडितों ने अनेक प्रकार से समझाया है। किसीने इसे पिंजरा कहा है, किसीने इसे बन्दीगृह कहा है,

किसी ने इसे और कुछ। सचमुच यह संसार एक धर्मशाला, एक सराय है और आप सब इसके यात्री, परदेशी हैं, एक दिन इसे छोड़ कर जाना है और जाने वालों को सतत सावधान रहना चाहिये।

लेकिन सावधान रहने वाले और सराय को सराय तथा देह को मुसाफिर मानने वाले कितने है ! यह जानते हुए भी हमें जाना है, कितने ऐसे हैं जिन्होंने अहं, प्रमाद, परिग्रह और दुराग्रहको त्याग दिया है। सत्य और सद्धर्म का मार्ग स्वीकार किया है।

जाने वालों ! आप चले जायंगे लेकिन आपके सुकर्म और कुकर्म की कथाएं रह जायंगी, कीर्ति या अपकीर्ति आप छोड़ जायंगे। मौत से पहले ससार को अवश्य कुछ न कुछ दे जाइये। भाइयों जिसका लिया है, उसे देना जरूरी है। यह लोक-व्यवहार है और इसे ध्यान में रखना होगा।

दुनिया रेल गाडी है। आप सब मुसाफिर हैं। ज्यों-ज्यों जिसका स्टेशन आता है, समय पूरा होता है त्यों-त्यों वह उतरता जाता है। जो सावधान है वे सही स्टेशन पर उतर कर अपने गंतव्य स्थान पर पहुंचते हैं, जो सोते ऊंघ रहे है, वे स्टेशन चूक जाते है और पछताते हैं। काल इस रेल गाड़ी को हांक रहा है और मृत्यु का धुआं उड़ाती यह गाड़ी सीधी चली जा रही है। जन्म पीछे रह गया है और मृत्यु सामने है।

चूंकि मृत्यु सामने हैं, आप सावधान हो जाइये, समय रहते चेत जायें और अपना रास्ता तय करें। सत्य, अहिंसा, सेवा, जीवदया और दान धर्म का मार्ग अपनायें। कषाय, परिग्रह का पाप पंथ न पकड़े। अब आप जाने वाले हैं और हम भी जाने वाले है इसलिये मैं अधिक कुछ नहीं कहूंगा।

———

: एशियाई धर्मों का मिलन :

धर्म मृत्यु पर आत्मा की विजय का सन्देश-वाहक है। धर्म ने भोग पर त्याग की, आसुरी शक्तियों पर दैवी शक्तियों की विजय करवाई है। धर्म का प्रासाद, प्रेम और सहिष्णुता पर खड़ा है। आत्मसमर्पण धर्म की पहली शर्त है। धर्म ने मानव के विराट् अन्तःस्तल में लुप्त परमात्मा को जागृत किया है। धर्म ने आत्मा को परमात्मापन का आत्म विश्वास दिया है और परमात्मा ही परमात्मा की आलोकिक ज्योति को निहार सकने का रहस्य उद्‌घाटित किया है। वट के बीज वट है, एक बीज के अगणित होने पर भी उनमें वही शक्ति है, शक्ति के विनिमय का सिद्धान्त अर्थात् शक्ति का विभाजन होने पर भी शक्ति है, वह अशक्ति नहीं हो सकती। ठीक इसलिये धर्म प्राणिमात्र की आत्मा को उस दिव्य प्रभुमय ही देखता है। 'अप्पा सो परमप्पा' भगवान महावीर की वाणी और आत्मा ही परमात्मा है, यह सब सुनहले सिद्धान्त उसी परम धर्म ने अविश्वासी मानव को प्रदान किये हैं। प्रभुमय हुए बिना प्रभु का साक्षात्कार नहीं हो सकता। यही सभी सन्तों, साधकों, धार्मिकों और मस्त फकीरों की अमर वाणी रही है, जिससे धर्म जैसा अमृत इस मानव लोक में निरंतर बहता रहा है। यही

एक ऐसा भावात्मक धर्मों का संगम है जहां संसार के तमाम धर्म अपनी अपनी एकता की गूंज से प्रतिध्वनित हो रहे हैं।

धर्म चाहता है, मानव की और मानवीय संसार की सुन्द-रता धो दी जाय, मानव आसक्तिहीन हो सके। वाणी और विचार का अतिक्रमण कर मौन की भाषा में, वाणी के नाद को सुन सके। याद रखो, मौन ही आत्मा की भाषा का अवि-रोध प्रवाह है। उसका उद्गम प्रभु साक्षात्कार से प्रकट होता है। प्रभु स्वरूप हुए बिना प्रभु को पाना असम्भव है। अपने स्वरूप का प्रेम ही ईश्वर प्रेम है, प्रभु भक्ति है। जप विचारों के शमन का एक उपाय है, दुर्वृतियों, अनैतिकताओं से बचने के लिये सिवाय आनन्द भाव से प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण करने से श्रेष्ठ कोई मार्ग नहीं है। आत्मा ही सच्चा गुरु है, वही परमात्मा रूप हमें प्रति क्षण सत्य का साक्षात् शिक्षण देता है, जिससे मानव अन्तर्मुख हो सके, शान्ति प्राप्त कर सके, भेद से अभेद की ओर, अविद्या से ज्ञान की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर प्रयाण कर सके। यही आत्मार्थी की, धर्मात्मा की सर्वोच्च ध्येय सिद्धी है, जिसका शिक्षण सभी धर्मों ने किसी न किसी रूप में संसार को प्रदान किया है।

सभी धर्मों ने आत्मसमर्पण से अहम् भाव के नष्ट होने का विश्वास किया है।

तभी मानव का शोक और दुःख, पीड़ा और व्यथा, सभी

कुछ नष्ट हो जाती है। यहीं से आत्मानुभूति का पहला आस्वाद प्राप्त होता है और आत्मानुभूति की शान्ति ही ससार की तमाम गुप्त शक्तियों से बढ़ कर है। सकल्प व्रत, जप, तप, रोजा, नमाज, उपासना और प्रार्थना सब कर्म उसी शक्ति को जागृत करने के उपकरण मात्र है। उद्देश्य तो स्वरूपावबोध ही है बिना स्वरूप को समझे 'मैं' को पाये, हम अपना और ससार का किंचित्मात्र भी उपकार नहीं कर सकते। इसलिये सयम, दया, परोपकार, सरलता, दमन, शान्ति तथा क्षमा आदि दैवी शक्तियों का प्रकटीकरण, पहिले अपने में ही करना पडता है, क्योंकि तुम्हारा ध्येय तुम्हारी विनम्रता में ही छिपा हुआ है। तुम्हारा कल्याण तुम्हारे ही चरित्र निर्माण में गर्भित है, तुम्हारा उत्थान और पतन तुम्हारी ही भावनाओं और आचरणों पर अवलम्बित है। तुम्हीं अपने आपके विधाता हो, शुभ करो शुभ हो जाओगे, तुम्हें अशुभ से शुभ की ओर तथा शुभ से शुद्ध की ओर प्रयाण करना है। यही तुम्हारा पथ क्रम है और इसी उदात्त वृत्ति को अपनाने के लिये सभी धर्मों का बलपूर्वक आग्रह है।

यह मैं धर्म का अध्यात्म पक्ष कह गया हूं। सभी धर्मों ने लोक-मगल, लोक-कल्याण और लोक-हित ही को अपना एक-मात्र उद्देश्य घोषित किया है। आवश्यकता है हम अनेकान्त की दृष्टि से अखड सत्य का दर्शन करें। शुद्ध दृष्टि द्वारा सम्यक् का साक्षातकार करें। विश्व के धर्म केवल उसीके लिये उपादेय

और ग्राह्य हो सकते हैं, जिनकी दृष्टि सम्यक् है, विचार सम्यक् है, आचरण सम्यक् है । मैं उद्घोषणा करता हूं कि सभी धर्म सापेक्ष्य दृष्टि से सच्चे हैं । उन्हें झूठा नहीं कहा जा सकता। हीन नहीं कहा जा सकता. वह किसी न किसी अपेक्षा से इसी परम सत्य सत्ता की ओर जाने के लिये आतुर है, जिसे धर्म—अनेका-तात्मक परम सत्य कहा जाता है । गांधीजी ने कहा था कि धर्मान्धता और दिव्य दर्शन दोनों अलग अलग रूप हैं। उनमें कोई मेल नही है । धर्म की आत्मा को पहिचानो, धर्म का साक्षात्कार करो ।

मैं धर्म के ब्रह्म स्वरूप में एकता का दर्शन कर रहा हूं । क्या संध्या, नमाज, प्रेय, प्रभु भक्ति आत्म चिन्तन. उसी आत्म-बोध को सिद्ध नहीं कर रहे । क्या माला, तस्बीह और रोजरी, एक ही चीज के नाम नहीं है ? अरहन्त, बुद्ध रसूल, जरथुस्थ, मसीह आदि शिक्षा देने वालों के नाम नहीं है क्या ? क्या सभी पुण्य तथा पाप के फल भोगने के स्थान को नरक जहन्नुम तथा पुण्य-प्रद स्थान को जन्नत स्वर्ग तथा हैवन का नाम नहीं देते हैं ?

व्रत, उपवास, तीर्थ-यात्रा, धर्मार्थदान, मनुष्य मात्र तथा समस्त प्राणियों के प्रति की गई दया, सुजनता और सौहार्द की सभी धर्म प्रशंसा करते नहीं है क्या ?

यह तो मैं स्थूल नियमों मे तुलना कर रहा हूं। नहीं तो सिवाय दृष्टि के संसार के सभी धर्मों में आश्चर्य कारक एकता है । उस एकता को पाने के लिये समन्वय की बुद्धि,

श्रद्धा का हृदय तथा प्रेम की आंखे चाहिये। धर्म के मानने वाले विश्व के नागरिकों! संसार के सभी धर्मों के प्रति उदार बनों, सहिष्णु बनों और उनके प्रति आदर रखो, तिरस्कार की भावनाओं को तिलांजलि दे दो। सहानुभूति के अमृत का वर्णन करो। तभी तुम धर्म का हार्द पा सकोगे।

अन्त में विश्ववंद्य महावीर के शब्द में 'वत्थु सभावो धम्मो' कह कर मैं उस विराट् अखंड सत्य की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूं। अमर सन्तानों! सम्प्रदाय के स्थान पर स्वभाव को धर्म मानो ओर प्रेम का विस्तार करो। इसी पर मैं आशा करता हू कि भारत भूमि पर ही सभी धर्मों का मिलन हो, जिससे समुचित विश्व को विलक्षण प्रेम का दिव्य संदेश दिया जा सके।

: श्रमण-संघ जिन्दावाद ! :

मानव जाति को जिसने अपने तप, त्याग और बलिदान से सामाजिकता का दिव्य ज्ञान दिया वह ससारके आदि पुरुष भगवान ऋषभदेव थे ।

ऋषभदेव ने ही आकाश की ओर झांकने वाले वृक्षों से बिना परिश्रम ही योग्य सामग्री प्राप्त करने वाले इनसान के हाथों में पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा की परावलम्बन में कर्म की परम्परा से उद्योग को स्थापित किया ।

गृहस्थ जगत् को भी आत्म-धर्म के विकास के लिये श्रावक और साधु धर्म की व्यवस्था की ।

संसार के मानवीय इतिहास में श्रमण-संघ की संस्था का निर्माण जैनधर्म की अपूर्व देन है । ईसाई, यहूदी, कन्फ्यूसीयस इस्लाम सभी विचारधाराओं में साधु और श्रावक की कल्पना जैनधर्म से ही ग्रहण की गई है ।

यहांतक कि कितने ही धर्मों में श्रमण व्यवस्था का अभी तक भी कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है । मैं विश्वास करता हूं कि जैनधर्म को स्थायी रखनेका सर्वोत्तम प्रयास भगवान ने श्रमण-सघ की व्यवस्था द्वारा ही किया है ।

भगवान महावीर के ठीक दो हजार वर्षों के अनन्तर ही स्थानकवासी—क्रान्तिकारी सम्प्रदाय का जन्म हुआ ।

पिछले पांच सौ वर्षों में स्थानकवासी त्यागी मुनियों ने त्याग की ओट में पलते परिग्रहवाद भोगवाद और जड़वाद का समूलोन्मूलन किया है।

साधु संस्था विभिन्न गुरुओं के नाम से प्रचलित हुई आचार के सूक्ष्म विविध मान्यताओं के कारण इनमें सम्प्रदाय को खाई चौड़ी हो गई और चार विविधताओं ने एकान्त में अन्तर डाल दिया।

समय ने पलटा खाया, मुनियों में एकता का महा स्वर गूंजने लगा। समाज के सभी अंगों ने सहयोग के हाथ पसार दिये। स्थानकवासी समाज का भास्कर चमकने लगा। अनेकता, फूट, मतभेद तथा सम्प्रदायवाद के काले घटाटोप बादल हट गये।

सादड़ी, सोजत सम्मेलन ने संघ की एकता को महाप्राणवान बनाया। व्यक्तिगत मानस प्रेमकी हिलोरोंमे थिरकने लगा। संगठन, एकता और व्यवस्थित हो जाना ही हमारी उद्देश्य-सिद्धि नही है, अपितु अभी हमारी मंजिल दूर है। उन्नति का हिम शिखर अभी ऊंचा है। हमें आगे बढ़ना है। एक आचार्य, एक गुरु परम्परा, एक अनुशासन और एक बंधारण बांध कर प्रगति करना है। सचित और अचित विधि-भेद आदि सभी विवादों का हमें समीचीन समीकरण करना है। अभी संघ की एकता के अनन्तर हमें जो लक्ष्य प्राप्ति करनी है, उसके लिये पंचवर्षीय योजना के तरह योजनाएं बनानी हैं।

शिक्षा, दर्शन, धर्म, साहित्य, आचार-विचार सभी क्षेत्रों में आशातीत सफलता प्राप्त करनी है। हम निराशावादी नहीं हैं। हमारे प्राचीन श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों ने जो साहित्य और साधनों के अप्रतिहत शालिनता प्राप्त की है, हमें उस गौरव को सहस्त्रगुणित करना है, उसके लिये हमें भगवान महावीर का कर्मठ साधु बन कर संसार के रंगमंच पर इस प्रकार उपस्थित होना है, जिससे जैन साधु विचार के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु धर्म तथा साहित्य और सुधार व आत्म दर्शन में एक विलक्षण सिद्धि स्वयं प्राप्त करे और संसार को अपूर्व भेंट दे सके।

हमारे इस पवित्र कार्य में वर्तमान आचार्य आत्मारामजी म० की ज्ञान साधना हमारा मार्ग दर्शन करेगी और उपाचार्य श्री गणेशीलाल जी म० का अनुशासन हमें मार्ग से च्युत होनेसे बचायेगा तथा प्र० मन्त्री श्री आनन्द ऋषिजी म० आदि जैसे दीर्घदर्शी महामुनिश्वर का नेतृत्व हमें विकास के पथ पर अग्रसर करेगा।

मैं विश्वास करने पर बाध्य हूं कि स्थानकवासी जैन समाज के पास विद्वान् निष्ठवान्, आचारवान् तथा वक्ता और व्याख्याकार मुनियों का अभाव नहीं है किन्तु भविष्य में नव-निर्माण हो रहे संसार को हमें क्या संदेश देना है, भावी सांस्कृतिक प्रजा को अहिंसा के सुसंस्कारों में किस प्रकार ढालना है, पाश्चात्य विचारकों के मन में सन्तुलित अखण्ड सत्य स्वरूपी

अनेकान्त का दिव्य दर्शन कैसे करवाना है, यह हैं जीती जागती समस्याएं जो आज हमारे मनों को आलोड़ित कर रही हैं। जरा पास के पडोसियो पर नजर डाल कर देखो किस प्रकार साहित्य-निर्माण की ओर विकासोन्मुख हो रहे हैं। हमें विकास की प्रेरणा आचार्य धर्मदास जी महाराज, लवजी महाराज तथा धर्मसिंह जी से लेना है। प्रचार की प्रणाली हमें रामकृष्ण मिशन की कार्यपद्धति से सीखना है। ईसाइयों की मिशनरीज संसार की प्रचार-कला मे सर्वोत्तम होशियार है किन्तु हम जैनधर्म जैसा ऊचा सिद्धान्त और ऊंचा आदर्श पाकर भी सुस्त बैठे हैं, यह खेद की बात है।

महावीर की संतानों! समूचा विश्व तुम्हारी ओर श्रद्धा की दृष्टि से देख रहा है। अहिंसा यदि भगवान महावीर ने दी है तो उसका सर्वतोमुखी विकास तथा प्रसार हमारा श्रमण संघ करे, यही एकमात्र कामना है।

———

आयुर्वेद का महत्त्व

आयुर्वेद का उद्देश्य औषधि ही देना नहीं है, अपितु स्वस्थता को स्थायी रखने के लिये दैवी गुणों का विकास भी करना है। जन-कल्याण तथा विश्व-हितकर संस्थाओ में आयुर्वेद दर्शन का भी मुख्य स्थान रहा है। यद्यपि भारतीय चिन्तनधारा का ध्रुव केन्द्र विमुक्ति और आत्म-सिद्धि रहा है तो भी आयुर्वेद दर्शन का भी मुख्य उद्देश्य आत्मसिद्धि तथा मनुष्य के स्वास्थ्य को स्वस्थ रखना ही रहा है।

यद्यपि बीमारियाँ पेट की, मन की तथा आत्मा की ही होती है। आयुर्वेद विविध रोगग्रस्त मानव को जीवन दर्शन देता है, आरोग्य का आश्वासन देता है। औषध देना ही आयुर्वेद नहीं है, यह तो आयुर्वेद का आचार-शास्त्र है, जिसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि यह कार्य वैद्यों और डाक्टरों का है, मेरा नहीं। मेरा तो धार्मिक दृष्टिकोण से आयुर्वेद के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है।

विश्व के आरोग्य पथ-प्रदर्शक चिकित्सकों की तुलना में भारत के आयुर्वेद दक्ष किसी प्रकारसे पीछे नही, अपितु प्रगतिगामी है। आज चाहे भारत मे और विदेशों में आयुर्वेद का कितना भी कम महत्व आंका जाता है, किन्तु यह निश्चय है कि चिन्तन की दृष्टि से आयुर्वेद संसार की सफलतम तथा

श्रेष्ठतम आरोग्यप्रद पद्धति है; क्योंकि आयुर्वेद ने मानव को औषधियों का दास नहीं, अपितु दैवी गुण—अहिंसा, सत्य, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य, सन्तोष और आत्म-विश्वास की ओर प्रेरित किया है।

यह आत्मा का मन्दिर शरीर संसार भर का कूडा-कचरा भरने के लिये नहीं है, अपितु सत्व, संशुद्धि तथा आत्मसिद्धि के लिये है। दवाइयों की गुलामी बढ़ती जा रही है, वासना की लालसा उत्तेजित हो रही है। कामुकता, वीर्य-क्षीणता, बल व पुरुषार्थहीनता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। रोग और रोग-प्रसार की दवा इंजेक्शन नहीं है, अपितु संयम है। संयम का समर्थन आयुर्वेद करता है, इसलिये हम आयुर्वेद को धर्म के अधिक निकट मानते हैं। मुझे आयुर्वेद के अध्ययन से यह विश्वास हो गया है कि आयुर्वेद संसार मे शुद्ध, सत्व, दोष-रहित और कल्याणांश को शाश्वत बनना चाहता है। इसलिये उसने उसी पुरुष को ब्रह्म कार्य कहा है जो पवित्र, सत्यपरा-यण, जितेन्द्रिय, न्यायप्रिय ज्ञान-विज्ञान सपन्न, वक्ता, चिन्तक सम्यग्दृष्टि सद्विद्यापक और कषायरहित होता है।

क्योंकि आयुर्वेद का विश्वास है कि:—मनुष्य के रोगों का प्रतिकार आन्तरिक शुद्धि से संभव है। हम आयुर्वेद के इस मुख्य अंश का आध्यात्मिक समर्थन करते हैं जिसमें:—आत्मा की सत्ता, मन का विवेचन, अन्तःकरण शुद्धि और संयम की आज्ञा का उल्लेख किया गया है। आज भारतियों की मानसिक

स्थिति बड़ी विचित्र है, लोग कहते हैं कि वैद्य सावधानी से चिकित्सा नहीं करते—किन्तु मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि तुम्हारे देश के पास ही जापान भी एक राष्ट्र है। जरा उसकी ओर भी ध्यान दीजिये, वहाँ वैद्यों के साथ सम्बन्ध भिन्न प्रकार का है। जापान में वैद्यों को स्वास्थ्य रहेगा तब तक पैसा मिलता रहेगा और जब किसी भी सदस्य को रोग ने दबोचा कि वैद्य की आमदनी कट गई। क्योंकि वैद्य स्वास्थ्य रखने के लिये होता है न कि रोग के लिये।

हिन्दुस्तान की विचित्र दशा है, बीमारी आयेगी तो वैद्य को पूछा जायगा, नही तो वैद्य साहिब भूखा मरा करे।

अब आप समझ लें कि आप वैद्यों की भावनाओं को किस प्रकार बनवाना चाहते हो। खैर, यह आपका काम है। मेरे कहने का आशय तो इतना ही है कि आयुर्वेद का मुख्य ध्येय आरोग्य को स्थायी बनाये रखना है। मैं मानता हू कि आयुर्वेद एक जीवन-दर्शन है, जो धर्म पर विश्वास रखता है और अहिंसा आदि सद्व्रतों के पालन करने की प्रेरणा करता है और फिर अहिंसादि का विश्लेषण करना धर्म का काम है, यही भारत की विशेषता रही है कि आयुर्वेद धर्म का सहायक तथा धर्म आयुर्वेद का सहायक रहा है। जैनधर्म में जो तप का महत्त्व तथा वनस्पति विज्ञान तथा भोजन का सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है, उसकी आयुर्वेद के साथ घनिष्ट समानता है।

जैनधर्म कन्द मूल के भोजन का परित्याग करवाता है,

उसका कारण भी वैज्ञानिक है। प्रत्येक धार्मिक अन्धकार में पलने वाली वनस्पतियों का सेवन नही करें, क्योंकि उसमें सत्त्व गुण की प्रधानता कम रहती है।

वृक्ष के ऊपर धूप में पकने वाले फल और जमीन की तहों के नीचे अन्धकार में पलनेवाली वनस्पतियो में बहुत अन्तर रहता है।

जैनधर्म समस्त तिथियों में तो वनस्पति-सेवन की मर्यादा करवाता है, जैसे—दूज, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, पूर्णमासी को। कारण कि चन्द्रमा की कला बढ़ने या घटने के साथ जमीन और वनस्पति में पानी का अतिरेक बढ़ता है। अधिकसे अधिक पानी रोग का कारण बनता है। यह तो स्वास्थ्य-दृष्टि के अनुकूल तो है ही किन्तु साथमें अहिंसा के पालन करने में भी ये मर्यादाएं सहायक है।

जैनधर्म के समस्त व्रत विधान तथा आचार-नियमों का आयुर्वेदपूर्ण समर्थन करता है, और यही क्या बौद्ध तथा वैदिक धर्म भी जिन विधानों को मानव के लिये आवश्यक निर्दिष्ट करते हैं, आयुर्वेद उन तमाम धार्मिक शुभ मर्यादाओं तथा अहिंसादि व्रतो को आरोग्य के लिये अत्यावश्यक मानता है। आत्मवाद, मनोयोग तथा ज्ञानेन्द्रिय आदि सभी धार्मिक तत्वों पर आयुर्वेद अपने समर्थन की मुहर लगाता है। एलोपैथी, होमियोपैथी आदि तमाम पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति में भारतीय संस्कृति तथा मानवात्मा का संरक्षण करनेमें असमर्थ है।

अभी तक जो विचारधाराएं आत्मा तक को स्वीकार नहीं करतीं वे मानव का उद्धार क्या करेंगी ? अतः मैं आज सबको यह उद्बोधन दूंगा.—

भारतीय इन्सानों ! अपनी परम्परागत विरासत जो विज्ञान की अमूल्यतम निधि है, कल्याण की कुन्जी है, उस परम पुनीत धर्म के सहायक आयुर्वेद का संरक्षण करो, यही तुम्हारे लिये वरदान है।
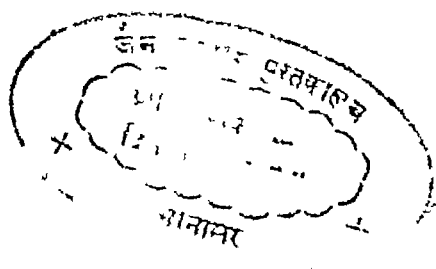
: विश्व का भविष्य :

चइत्ता भारहं घासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ
सान्ती सन्ति करे लोए पत्तो गइ मणुत्तरं ।

भाइयो !

'विश्व' और 'भविष्य' दो शब्दों मे आज की दुनिया की सारी कहानी छिपी पडी है। विश्व का भविष्य—आप कहें अथवा भविष्य का विश्व आप कहें बात एक ही है। भविष्य का विश्व कहने से हमें कुछ अनुमान लग सकता है कि आया यह आज के विश्व के समान होगा अथवा इससे कुछ और प्रकार का! आज के विश्व से आप परिचित हैं। मनुष्य ने ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र मे, कला और साहित्य के क्षेत्र में, जीवन और राजनीति के क्षेत्र में काफी उन्नति की है। दूसरी ओर उसकी अवनति भी कम नहीं हुई। यदि एक पक्ष प्रकाशपूर्ण है तो दूसरा सर्वथा अन्धकारमय। एक ओर ऊंचे ऊंचे महल और अटारियां हैं, सुन्दर वस्त्रों में सजे नर और नारियां हैं, तो दूसरी ओर जानते हो क्या है ? झोपड़ियां, फटे चिथड़े, गरीबी और गुलामी। आदमी बहुत ऊंचा चढ़ा, एवरेस्ट की चोटी पर बहुत ऊंचा पहुंचा, वायुयान पर उड़ा. लेकिन ऊंचा चढ़ने और उड़ने से ही उसका उद्धार नहीं हो गया। जितना ऊंचा उसका शरीर गया उतनी नीची उसकी आत्मा गई।

इन्सान ने अपने ही जैसे इन्सान को या कहें खुद को मारने को परमाणु बम बनाये और खुद को मारने के लिये युद्धों की रचना की। भौतिक वस्तुओं के विषय मे उसने पर्याप्त सफलता पाई, पर उस पर स्वामित्व न पा सका। उसके हाथ में रह कर भी ये वस्तुएं उसके हाथ से बाहर रही। यही आज के आदमी की सबसे बडी कमजोरी है। यदि आदमी में आत्मा का बल होता तो ये भौतिक वस्तुएं उसके वश में रहतीं।

अब अधिक इस ओर जाने से विषयान्तर हो जायेगा। संक्षेप में कहूं कि—यह है आजका विश्व और उसका इन्सान! जिसे अपने ज्ञान का मार्ग है, जो न होना चाहिये। जिसे अपने विज्ञान का अभिमान है जो उसे विनाश की ओर ले जा रहा है। यह आज की दुनियां है, जो कल की दुनियां हरगिज नहीं हो सकती। फिर कल की दुनियां, भविष्य का विश्व या विश्व का भविष्य क्या है, मैं आगे चल कर बताऊंगा।

बन्धुओं! विश्व से आपका मतलब इन्सानों की इस दुनिया से है। केवल इन ढाई अरब दो पैर वाले आदमियों से है। यही आपका मतलब है! तो आप गलती कर रहे हैं। दुनियां इतनी छोटी नही है। हमारी दृष्टि में कई दोष हैं। अभी हमने सब नही देखा है। कीटाणु देखने वाले बारीक यन्त्र हमारे पास होते हुए भी हमने बहुत चीजें नही देखी है। अरे भले लोगों! उन असंख्य प्राणियों का क्या होगा जो तुम्हें

जिला रहे हैं। जिनके बल पर आपका, हमारा और समस्त सृष्टि का अस्तित्व निर्भर है।

ये कीड़े मकोडे, गाय, भैंस, बैल, कुत्ते, घोडे, हाथी तो हैं ही, इनके अतिरिक्त नजर न आने वाले लाख-लाख जीवों का क्या होगा? वे भी तो विश्व में सम्मिलित हैं और जब आप नये विश्व के नये विधान का निर्माण करने चले तो क्या इन अभागों को भूल जायेंगे? अपने विधान में इन अल्प सख्यक नहीं, बहुसंख्यक बेजबान जीवों के अधिकार सुरक्षित न रखेंगे? अपनी पार्लमेण्ट में इन्हें प्रतिनिधित्व न देंगे? यदि ऐसा न हुआ तो मित्रो, आपका गणतंत्रात्मक राज्य एक मजाक बन जायगा। इसलिये हमें विश्व शब्द के मोटे अर्थों को छोड़ कर नये परिपूर्ण अर्थों में ग्रहण करना पड़ेगा।

आपने स्वीकार कर लिया होगा कि जीवाणु जगत् का हम पर कितना अधिकार है। वनस्पति को जीवित रखने वाले कीड़े न हों तो हम जीवित नहीं रह सकते। माताएं नौ मास गर्भ में रख कर शिशु को जीवन दान देती हैं और साल छः महीने दूध पिलाती हैं। उनका उपकार हम मानते हैं और कहते हैं कि—"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरियसी"। माता को धरती से बड़ा माना है। शास्त्र कहते हैं पूज्यनीय व्यक्तियों में पहले माता का स्थान है। लेकिन यह माता तो दूध पिलाना बन्द कर देती है। कुग्रास पशु दूध पिलाना बन्द नहीं करते। भला आप ही बतलाइये उनका उपकार और ऋण हम पर

कितना है और वे हमारे अस्तित्व के लिये कितने उपयोगी एवं आवश्यक हैं।

ऐसे विश्व में अनेक आवश्यक परिवर्तन लाने का श्रेय मनुष्य पर अधिक है। मनुष्य समस्त सृष्टि का नियन्ता है। प्रसिद्ध विद्वान कार्लाइलने मनुष्य को जन्मजात सैनिक कहा है। कवि की परिभाषा सर्वथा सत्य है। क्योंकि मनुष्य ने सदैव अमानुषिक शक्तियों से संघर्ष किया है। संघर्ष मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। संघर्ष न होने पर मनुष्य मनुष्य नहीं रहता, केवल पेट भर लेने वाला जन्तु वन जाता है। इस प्रकार वह अपने पैरों पर चलने वाला नही वरन् रेंगने वाला जन्तु वन जाता है। इसलिये हमने कहा है कि सघर्ष मनुष्य के लिये आवश्यक है, क्योंकि इसके द्वारा वह अपने सद्गुणों और अपनी अच्छाइयों को प्रकट करता है। ऐसे सद्गुणी मनुष्य को न केवल अपने लिये लेकिन सारे प्राणियों के लिये परिवर्तन द्वारा नवीन विश्व की रचना करनी है।

विश्व का भविष्य—

यही हमारे आज के भाषण का विषय है। मैं यह भविष्य ज्योतिष के आधार पर नहीं वतलाने जा रहा हूं क्योंकि मैं ज्योति पर विश्वास रखता हूं न कि ज्योतिष पर। महात्मा गांधी ने कहा था:—ज्योतिषियों के कहने पर विश्वास न करो क्योंकि उनका कहना सच हो तो भी उससे कुछ लाभ नहीं, इसलिये ज्योतिष को मैं अपनी भविष्यवाणी का आधार नहीं

बनाऊंगा। आप कहेंगे—राजनीति के आधार पर आप अपना भाषण बनायेंगे ? लेकिन राजनीति के आधार पर भी विश्व का भविष्य नहीं कहा जा सकता।

भविष्य किसी दूसरे के हाथ में नहीं—आपके, आपकी दुनियां के और आपके वर्तमान के हाथ में है। यदि मैं अधिक स्पष्ट कहूं तो यों समझिये कि वर्तमान के बीज से भविष्य का वृक्ष पैदा होता है। मनुष्य की लगन, साधना और संघर्ष इस बोये हुए बीज को जलदान देते हैं। वास्तव मे हमें यह जानना है कि आखिर काल क्या है ? क्योंकि मैंने बतलाया कि मैं वर्तमान की चिन्ता करता हू, भविष्य की नहीं।

काल सतत गतिशील होने पर भी सदा शाश्वत है, गति जीवन है और स्थिरता मृत्यु है, यह भी बतला चुका हूं। दार्शनिक काल को तीन भागों में विभाजित करते हैं। ज्योतिष पल, विपलों में और वैज्ञानिक तो काल के टुकडे टुकड़े कर डालते हैं।

तो क्या आपने मान लिया कि काल खण्ड-खण्ड हो गया ? वास्तव में आपने काल के टुकडे-टुकड़े नहीं किये। काल ने आपके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। मनुष्य मरे हुए वर्तमान को भूत कहता है और पैदा होने वाले वर्तमान को भविष्य कहता है। इस प्रकार भविष्य की आशा में जीता है। काल का अग्र भाग चित्रकार की कलम के समान होता है। जो वस्तु को आकार और उपयोग के रूप देता जाता है और उसका पिछला भाग

प्रलय की पूंछ के समान अपने बनाये को ध्वंस करता जाता है। मित्रों! यही कालचक्र है जो समूचे संसार को काटता चला जा रहा है। अब यदि आप इस चक्र से बचना चाहते हैं, तो समय की हत्या करना छोड़ दो, क्योंकि काल बदला लेता है। वह अपने हत्यारे को कभी क्षमा नहीं करता। इस काल का बल असीम है। काल में—यह विश्व के गेंद या खिलौने की तरह खेल रहा है। अतएव उसकी मजाक करना मनुष्य की सभ्यता के बाहर है। लेकिन स्मरण रखें, मनुष्य काल का खिलौना है; किन्तु उसकी आत्मा नहीं, आत्मा, काल से प्रबल है, और वह सदैव शाश्वत है, इसलिये काल के थपेड़ों से बचना अपने भविष्य को सुरक्षित करने के लिये वह चिन्तित है, लेकिन आत्मा को जड़ मानने वालों को भविष्य और अतीत जड़ है। चैतन्य मानने वालों की आत्मा सदा चैतन्य के रूप में अपनी रक्षा करेगी, जड़ के रूप में नहीं। अतएव आत्मा को जड़ मानने वाले काल चक्र से नहीं बच सकेंगे।

अतएव समय का प्रमाद न करो। काल की हत्या न करो। वर्तमान ही आपके सामने भविष्य बनके आयेगा। यदि हमारे प्रयत्न पूर्ण है और साधन शुद्ध है तो भले वर्तमान अत्यन्त गरीब क्यों न हो, भविष्य कभी गरीब नहीं रह सकता, हम जिन चीजों का बीज बोते हैं उसीका फल पाते हैं। यह बात भविष्य के सम्बन्ध में भी लागू होती है। आप भोजन करके बारम्बार भूख को इसलिये मिटाते हैं कि आगे आपको भूख न

लगे। कपड़े इसलिये पहनते हैं कि सर्दी गर्मी से पीड़ित न हों। और भाइयों ! आप मकान इसलिये बांधते हैं कि वर्षाजन्य असुविधाओं से बचे रहें। हमारी सारी व्यवस्था भविष्य के लिये है। इस प्रकार आप देखते हैं कि हम वर्तमान का प्रत्यक्ष कार्य भविष्य के लिये कर रहे हैं। इससे भविष्य का महत्त्व मालूम पड़ता है। जब भविष्य इस प्रकार अहमियत रखता है तो हम उसके प्रति उदासीन नहीं हो सकते। मकान के उल्लेख पर मुझे याद आया कि जो मकान मनुष्य ने सर्दी गर्मी से बचने के लिये बनाये वे आज की असमानता के प्रतिनिधि और दावेदार बन गये। बड़े-बड़े भवन और इमारतों के स्वामियों का उद्देश्य आंधी ओलोंसे अपनी रक्षा नहीं, वरन् इन इमारतों द्वारा अपने वैभव की प्रदर्शिनी करना है। इस तरह तो हमारे समझदार कहलाने वाले आदमी ने नई समस्या खड़ी कर ली है। आदमी क्या है ? मिट्टी का चोला बाबा मिट्टी में मिल जायगा। यह हुई हमारी गली गली में फिरने वाले दार्शनिकों की परिभाषा। लेकिन आदमी मिट्टी का ही पुतला होता तो पिछली बरसात में आधा हिन्दुस्तान गल जाता। पञ्च तत्व का अद्भुत तत्व इन्सान है। इसी इन्सान ने अपनी रंग-बिरंगी दुनिया बना कर एक अजीब तमाशा खड़ा किया है।

पिछले जमाने में मनुष्य के सन्मुख इतनी समस्याएं नहीं थीं, जितनी आज हैं। यद्यपि प्राचीन और अर्वाचीन दुनियां के जनसाधारणका उद्देश्य एक ही रहा है। पिछले जमानेमें संसार

कामिनी और कचन के पीछे पागल था। और आज का सारा संसार सत्ता और सम्पत्ति के पीछे दौड रहा है। जरा वत-लाइये इस दौड का कही अन्त है। ये बड़े बड़े बाजार और इनके स्वामी सिक्के के पीछे विक्षिप्त हो उठे हैं। मानों मुद्रा ही मनुष्य को मुक्ति देगी। इस इन्सान का दूसरा पागलपन सत्ता के पीछे लगना है। ज्यों-ज्यों वह अधिकारों को हथियाता जा रहा है, त्यो-त्यों उसकी लालसा वढ़ती जाती है। आजका मनुष्य अधिकारों के मद में बावला वन गया है और अधि-कारों के लिये अधिकाधिक हिंसा और अन्याय अपना रहा है, लेकिन अधिकार कहीं शक्ति के प्रयोग से मिलते हैं। अधिकार तो सेवा और त्याग से मिलते हैं। सत्ता से प्राप्त शक्ति सत्ता से समाप्त कर दी जायगी और धर्म के आधार पर खड़ा किया गया पाखण्ड धर्म के द्वारा ही विनष्ट होगा, क्योंकि याद रखिये अन्याय स्वय अपना विनाशक है।

आज सत्ता और सम्पत्ति ने भगवान को वन्दी वना लिया है। पूंजीपति स्वयं भगवान के आसन पर वैठ गया है। वड़े-वड़े मन्दिर वनाये, गिरजे वनाये और गुरुद्वारे वनवाये। उनमे ईश्वर का अस्तित्व माना और पूजा पढ़ा कर मन्दिर के द्वार वन्द करवा दिये। ताला लगवा दिया और चावी अपने कोट के भीतर पाकिट में रख ली। उधर भक्तों विना भगवान वेचैन हैं। इधर भगवान के विना भक्त वेचैन। वेचारे दोनों लाचार और चावी पैसे वालों के पाकिट में। उसने समझा कि वही चाहे

तो दुनियां को ईश्वर का दर्शन करा सकता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। यह मात्र उसका भ्रम है। भ्रम की दवा तो लुकमान हकीम के पास भी नहीं है।

भाइयो! यह जो सम्पत्ति भगवान को बन्दी बना रही है और दरिद्रनारायण को रुला कर एकत्रित की गई है, वह रुदन ध्वनि के साथ ही विदा हो जायगी। सिर्फ धर्म की राह पर चलते हुए ही एकत्रित की हुई सम्पत्ति फूले फलेगी। यह हमेशा याद रखिये जैसा कि डाक्टर लोगों ने बतलाया है। आपत्ति आदमी को मनुष्य बनाती है। और सम्पत्ति उसे राक्षस बनाती है। अब यह आपके हाथ में है कि मनुष्य बने या राक्षस। रास्ते दोनों खुले हैं। किसी परवाने की जरूरत नहीं, लेकिन मैं इतना ही कहूंगा कि अधर्म में बनाई हुई सम्पदा से तो सदाचारी की गरीबी और मुफलिसी कहीं अधिक अच्छी है।

अबतक के भाषण से आपको ज्ञात हो गया होगा कि असमानता, अज्ञान, हिंसा, परतन्त्रता और शस्त्रों का शासन विश्व के भविष्य को अन्धकार में ले जाने वाली शैतानी ताकतें हैं। इनसे आज यानी वर्तमान की रक्षा कर हम विश्व के भविष्य को सुरक्षित रख सकते हैं। और वर्तमान का निर्माता मनुष्य है। मनुष्य मन का स्वामी है उसका दास नहीं। यदि हम मनुष्य के मन को बदलने में सफल हो गये तो विश्व के भावी मानव समाज का मन भी बदल जायगा। और मानवता

का भविष्य वहुत उज्वल और आलोकित हो जायगा। इसके लिये हमें सवसे पहिले अज्ञान का अन्त करना पडेगा, क्योंकि एक विद्वान के कथनानुसार आधी दुनियां नही जानती कि शेष आधी किस तरह अपने दिन विता रही है। सैक्सपीयर ने अज्ञान को ईश्वर का अभिशाप माना है और ज्ञान को ऐसे पंख वतलाये है जिनसे हम स्वर्ग की ओर उड़ते हैं।

हावेस नामक विद्वान् लिखता है:—"Knowledge is Power" ज्ञान ही शक्ति है।

विनोवा भावे ने भी अज्ञान के अन्धकार की ओर हमारा ध्यान खींचा है। उनके अनुसार अज्ञान से वढ़ कर कोई शत्रु नहीं।

इसके वाद ससार से हिंसा को मिटा देना होगा। हिंसा पर मैं अधिक नही कहूंगा। पूर्व के सभी ज्ञानियों ने हिंसा के विरुद्ध वहुत कुछ कहा है और हमारे देश में अहिंसा के सन्देश-कारों ने समय समय पर जन्म लेकर संसार को ज्ञान दान दिया है। लेकिन पश्चिम के विद्वानों ने भी अपनी राय प्रकट की है, किन्तु पश्चिम ने अहिंसा के पुजारियों का मान सम्मान समुचित रूप से नहीं किया। नतीजा यह हुआ कि वहां हिटलर जैसे हिसा शास्त्री पैदा हुए जिन्होने वारम्वार संसार को भीषण युद्धों द्वारा दहला दिया।

आज की सभ्यता का सवसे वडा कलंक असमानता है। किसी ने इन्सानों को ऊंच-नीच नहीं वनाया। ज्ञानियो, सन्तों,

और तीर्थंकरों ने नहीं कहा कि एक बड़ा और एक छोटा है। हमारे इस संसार में जहाँ छोटे-बड़े, अमीर-गरीब और काले-गोरे हैं, इससे तो कब्रिस्तान ही भला कि यदि उसकी मिट्टी खोदी जाय तो सब समान मिलेगी।

भाइयो! जब मिट्टी के ढेलों में इतना ज्ञान और ईमान है कि वे इन्सान इन्सान में फर्क नहीं करते तो तुम क्यों अन्धकार में भटक रहे हो? मैं यहाँ साम्यवाद और हिंसा द्वारा आने वाले ऐसे ही किसी परिवर्तन की पीठ नहीं ठोक रहा हूं वरन् अमानवीय परिग्रह के विरुद्ध बोल रहा हूं; जिसको महावीर स्वामी ने बुरा बतलाया है। लेकिन स्मरण रखें: गांधीजी ने कहा था कि अपनी आवश्यकता से अधिक किसी चीज को लेना हिंसा और चोरी है।

जब दुनिया से असमानता, अज्ञानता और हिंसात्मकता मिट जायगी तो यहां सबकी आजादी का सच्चा स्वरूप प्रतिष्ठित होगा और यहाँ शस्त्र के बल पर शासन करने वाले नहीं होंगे। युद्ध न रहेंगे। दुनिया में ऐसी आजादी आयगी जो कानून की पोथियों की आजादी नहीं होगी। मित्रों! बुलबुलें पिंजड़ों में नहीं गातीं। यदि बाहरी बन्धनों में पड़े रहोगे तो तुम्हारी आत्मा की बुलबुल रोती रहेगी। महात्मा भगवानदीन ने लिखा है कि आजादी आत्मा की एक खास हालत का नाम है। शेर पिंजड़े में रह कर भी कुछ आजाद है; क्योंकि वह आदमी की गाड़ी नहीं खींचता है। किसान का बैल और सिपाही का

घोड़ा खुले रह कर भी गुलाम है; क्योंकि वह जूए और साज के नीचे वधे रहते हैं। इसलिये हमें समस्त संसार को आत्मा के राज्य में ले जाना है जहां कानून की आवाज सर्वोपरि नहीं है, वरन् आत्मा की आवाज ही शासक है। जब ऐसी दुनियां बसेगी तभी विश्व का भविष्य सुरक्षित रहेगा।

मैं पहले कह चुका हूं कि संसार में ऐसा राज्य लाने के लिये मानव-मानव में परिवर्तन लाना पड़ेगा, क्योंकि मनुष्य का इतिहास उसके मन का इतिहास है। मन को सन्मार्ग पर लाकर भी हम मनुष्य को मुक्त कर सकते हैं। शास्त्र भी मानते हैं कि मनुष्य का मन ही मानव जाति के मोक्ष या बन्धन का कारण है। इसलिये इस मन को बदलना है जो नियन्ता है। मन के मालिक मनुष्य के स्वभाव को वदलना है।

भाइयो, आप जानते हैं कि बिल्ली जिन जबड़ों से चूहों को चबा कर खा जाती है, उन्हीं से वह अपने बच्चों को उठा कर एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करती है। 'नौ सौ चूहे मार बिल्ली हज़ को चली' ऐसी कुख्यात बिल्ली के बच्चों के शरीर पर आपने कभी उसके गड़े हुए दांत देखे होंगे? नहीं। क्या कारण है कि चूहे के शरीर पर लगने वाले दांत बच्चो के बदन पर नहीं लगते। इसका प्रमुख कारण मन का स्वभाव है। आज हमें बिल्ली जैसे दांत वाले मानव समाज के स्वभाव को सही रास्ते पर बदलना है। जब तक मनुष्य का स्वभाव नहीं बदलता तब तक यह सर्वव्यापी अन्धकार नहीं जाने का। बदले

हुए स्वभाव का स्वामी ही संसार का संरक्षक बनता है। अशोक की प्रसिद्ध कहानी आप भूले नहीं होंगे। कलिंग देश के युद्ध में ५ लाख लोगों का संहार हो गया। अशोक का मन इस सर्वघाती संहार से भर आया और बदल गया अशोक की जो तलवार संहारक थी वही तारक—उद्धारक बन गई।

विश्व की वर्तमान राजनीति और पूर्व या पश्चिम की दर्शन-धाराएं विश्व के भविष्य का निर्माण न कर सकेंगी, क्योंकि वे एकांगी हैं। पूर्वीय दर्शन जीवन की भौतिक आवश्यकताओं से सर्वथा कट कर चलता है। पाश्चात्य दर्शन ने भौतिक उपलब्धियों को ही सर्वस्व मान लिया है।

आज की सभ्यता चौराहे पर खड़ी है। उसके सामने चार लम्बे मार्ग खुले हैं। जनता चारों मार्ग पर चल चुकी है और उसके अनुभव असफलता की ओर अधिक बढ़े हैं। अतएव हमें एक सम्पूर्ण समन्वयात्मक पथ की प्राप्ति करना है।

अभी मैंने जो चार मार्ग बतलाये हैं उनमें हैं—१ साम्यवाद, २ पूंजीवाद, ३ सम्प्रदायवाद—इसमें नानाशाही एकतन्त्रवाद भी ले सकते हैं। सारी संकुचित स्वभाव वाली सत्ताएं इसमें सम्मिलित समझनी चाहिये, और चौथा है गांधीवाद जिसने सर्वोदय का नया नाम लिया है।

जैनधर्म पूंजीवादी वृत्तियों के एकदम विरुद्ध है। भगवान महावीर ने परिग्रह को सबसे बड़ा पाप बतलाया है। भला जिस जाति का एकमात्र उद्देश्य संग्रह हो वह कैसे संसार का

हित कर सकती है। जिस प्रकार किसी गड्ढे मे पुरानो जल एकत्र हो जाता है और सड़ कर वायु को विषैला कर देता है, वही हाल पूंजीवादी साम्राज्य का है। सामाजिक और राज-नैतिक क्षेत्रों में पूजीवादी राष्ट्रों के स्वार्थों ने जो जुल्म ढाये हैं, वे आपसे छिपे नही है। भारतवर्ष पर विदेशियों के अत्याचारों की कहानी बड़ी लम्बी है। चीन पर जापान ने, ईरान में बाहरी लोगों ने, इजिप्त में अंग्रेजों ने संसार के अनेक देशों में अनेक साम्राज्यवादी-पूंजीवादी देशों ने अकथनीय अत्याचार किये हैं। मात्र विदेशी व्यापार पर, सिर्फ युद्ध के हथियारों पर जिनकी आर्थिक सम्पन्नता आधारित हो वह राष्ट्र और विचारधारा भला विश्व का भविष्य कैसे बना सकती है?

यकीन मानिये पूंजीवादी रास्ता हमारे धर्म, ज्ञान, दर्शन और स्मृति के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि हमने संग्रह मे नहीं, त्याग मे मोक्ष का मार्ग माना है। हम त्यागी संतों के आराधक हैं। अपरिग्रह हमारे यहाँ परम मान्य है। वह भौतिक संस्कृति पर आध्यात्मिक त्याग की सर्वोच्च विजय है। उसे अपने हाथों से न जाने दिया जाय, उसीके थोड़े बहुत अणु हमारे लोगों में होनेसे हमारी जातियाँ शेष है। पूंजीवादी वृत्तिने पूंजी के उत्पादकों पर ही जुल्म करना चाहा है।

पूंजीवाद आत्मघाती है। अतएव भाइयों! यह हमारा रास्ता नहीं है।

अब आता है साम्यवाद। हमारी संस्कृति अहिंसात्मक

सिद्धान्तों पर आश्रित है। यह अहिंसा हमने साल दो साल में नहीं सीखी। हज़ारों वर्षों की निरन्तर तपस्या द्वारा हमारे देश ने अहिंसा को पाया है। साम्यवाद का रास्ता हिंसा के क्षेत्र में होकर जाता है। अतएव उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया जा सकता। कम्युनिज्म सर्वहारा या प्रोलेतेरियत का एकतन्त्र शासन है। ऐसा उसके विधाता कहते हैं। लेकिन एकतंत्रता में लोकतंत्रता की बात नहीं आती। इसमें बहुजन हिताय सिद्धान्त आ सकता है—सर्वजन हिताय नहीं। अतएव हमें यह सोच लेना है कि यह हमारे लिये कहाँ तक ग्राह्य है। साम्य-वाद ने व्यक्ति की रोटी का प्रश्न हल किया है इसमें शक नहीं, किन्तु रोटी की समस्या के पश्चात् जो सार्वकालीन, मानसिक अथवा आध्यात्मिक समस्याएं शेष रह जाती हैं, उसका कोई हल उसने नहीं किया। रोटी का सहारा है। अच्छे घर बार हैं। फिर भी एक श्रीमन्त दुखी क्यों? किसी को पुत्र नहीं, किसी की पुत्री विधवा है, किसी को प्रेमिका की लगन, कोई प्रेम में मग्न। भला बतलाइये ऐसे दुखियों को भौतिक साधन जुटा देने वाला राज्य कौन सी राह दिखायेगा? ऐसे पीड़ितों को आत्मा का मार्ग ही सहज शान्ति दे सकता है।

सम्प्रदायवादियों की संकुचितता आपको विदित है। जातियों, उपजातियों और नाना पंथों में बँट कर हम गुलाम हुए हैं। गुलामी के कोड़े आज भी जनता की पीठ पर अपने चिह्न बनाये हुए हैं। धर्म असहिष्णुता नहीं सिखाता। एकतंत्रता

हमारा धर्म नहीं, सिद्धान्त नहीं, रास्ता नही। सबकी मुक्ति में हमारा विश्वास है। व्यक्ति के अपने एकान्त उद्धार से समाज को कोई लाभ नही। सम्प्रदायवाद चुने हुए लोगो के चुने हुए अधिकारों का पोषक है। लोकतंत्रवादियों ने तो इस प्रथा के खिलाफ आज आवाज उठाई है, लेकिन २५०० वर्ष पूर्व महावीर स्वामी अकेले ही तानाशाही को चुनौती दे चुके है। जैन-धर्म ने सभी वाद या सम्प्रदाय को अपने शान्ति क्षेत्र में आने का निमंत्रण दिया है। किसी के लिये अपना द्वार वन्द न किया।

हम एक व्यक्ति की पूजा के विरुद्ध है। जनता ही सर्वोच्च शक्ति और देवता है। इसके विपरीत हिटलर का यह भयंकर विश्वास है, देखिये:—The Fuehrer is the Party and the Party is the Fuehrer

भाइयों! हिटलर का मार्ग हमारा मार्ग नहीं। विश्व का भविष्य उसपर आश्रित नहीं रह सकता।

अहिंसा को अपना अजेय अस्त्र बना कर चलने वाला अहिंसावाद विश्व के लिये एकाकी मार्ग है। इसका तात्पर्य यह नही है कि हम इसमें कोई परिवर्तन नहीं चाहते। यद्यपि गांधी जी ने तो इस मार्ग के विषय में कहा है.—

"यदि संसार के महामनीषियों ने अहिंसा तत्त्व को ग्रहण न किया तो उन्हें उसी पुराने तरीके पर ही लड़ कर दलबन्दी का मुकावला करना पड़ेगा। लेकिन यही जाहिर होगा कि हम

जंगली तरीकों से अभी आगे नहीं बढ़े हैं और हमने अभी भी ईश्वरप्रदत्त विरासतको समझना नहीं सीखा है और १६०० वर्ष पुरानी ईसायइत शिक्षा और उससे भी प्राचीन हिन्दू, बुद्ध तथा इस्लाम धर्म की शिक्षाएं दे देकर भी हम आदमी बन कर अभी आगे नहीं बढ़े। जिन आदमियों मे अहिंसा वृत्ति नहीं है उनका शक्ति प्रयोग करना, मैं समझ सकता हू और मेरे पास ऐसे आदमी भी हैं जो अहिंसक रह कर अपनी समस्त शक्ति से दलबन्दी वालों का विरोध कर सकते हैं और जाहिर करते हैं कि ऐसा मुकाबला अहिंसा से हो सकता है।

ऐसी अहिंसा द्वारा शासित विश्व ही अपनी प्रजा को सुख शान्ति का बोध करा सकता है। अहिंसा का शासन बाहरी शासन नहीं है और वह हृदय का आदेश है, कानून की जहां पहुंच नहीं है। रूस ने वर्गहीन समाज की रचना की, अपने देश में उसकी ज्योति का आलोक बिखरा, किन्तु पेट को खाई पाट देने ही से मनुष्य सुखी नहीं हो सकता, यदि उसके पास आत्मा का अमृत नहीं है। आज भौतिकता की ओर अग्रसर विश्व भी जड देह में महावीर की प्राणदायिनी समन्वयात्मकता को प्रतिष्ठित करना होगा। धर्म, ज्ञान, चारित्र, भावना और प्रेम के क्षेत्र में समता और समन्वय लाना है। विश्व का जीवन प्रेम रस मांग रहा है। सत्ता, शक्ति और अन्याय प्रातियों पर स्नेह का सुधा सिंचन ही विश्व को अमरत्व दे सकेगा।

भाषण को समाप्त करने के पहिले मैं फिर आपसे कह देना चाहता हूं कि यदि विश्व अपने वासना, विलास और वैभव के पीछे भटकता दौड़ता रहा तो अवश्य ही उसका भविष्य अन्धकारमय है।

: हिंसा और अहिंसा :

मानव जाति के इतिहास में हजारों दोषों, त्रुटियों और पापों का रहस्य उद्घाटन होता है. मनुष्य के बनाये विधान-शास्त्र जिस प्रकार मानव की उद्दाम उच्छृंखल वृत्तियों के नियामक है, साथ में उसकी अतीत निर्बलताओं के इतिहास भी हैं। दण्ड शास्त्र क्या है—मानव-कृत अपराधों का अतीत इतिहास !

आखिर उन अपराधों, दुर्बलताओं, क्रूर कर्म की वासनाओं में मूल भूत कारण क्या है ? केवल एक—और वह है हिंसा की अप्रकट दुर्वृत्ति। जैसे कि धर्म का अन्तर्भूत कारण एकमात्र अहिंसा है, उसी प्रकार पाप का मूल हिंसा है। आज तक जितने भी पाप हुए, अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार के बवण्डर उठे, वे सब हिंसा प्रेरित थे. इसमें कुछ भी शका नहीं, जैसे कि शुभ विचार-आचार सब अहिंसानुप्राणित होते हैं।

व्यक्ति से लेकर समष्टि तक के पाप पुण्य का हिसाब और धर्म अधर्म की व्याख्या तथा शुभाशुभ कर्मों का व्यवहार केवल हिंसा अहिंसा इन दो शब्दों मे समाहित हो गया है। सभी धर्मों की शुभ धाराएं अहिंसा को लेकर चली हैं। जैन में अहिंसा, बौद्धों में करुणा, इस्लाम में रहीम, पूर्वी एशिया के ताओ और कन्फ्यूसियस धर्मों में सहानुभूति तथा ईसाइयत

में सेवा और भारत मे दया और आदि शुभ प्रवृत्तियें उसी विराट् अहिंसा की ओर उन्मुख हो रही है।

संसार की हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार तथा ममत्व सब उसी एकमात्र हिंसा के अपर नाम हैं।

हिनस्तिसा ही हिंसा की व्युत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है कि वह अहितकर भावना तुझे मारेगी, तेरा विनाश करेगी जिसके द्वारा तू दूसरे प्राणियों का प्राण व्यपरोपण करता है। प्राण हनन व्यथित पीड़ित तथा बाधित करना भी है। और वह मन, वाणी तथा काया तीनों प्रकार से ही हो सकती है। हमारे कुछ विचारक कहते है कि हिंसा दुवृत्ति का विरोध अहिंसा से ही हो सकता है, और उसका मार्ग है हिंसा न करना। उसके लिये हमें कहना होगा कि हिंसा न करना ही अहिंसा हुई तो अहिंसा का विधेय मार्ग कौनसा रहेगा। अहिंसा तो एक धर्म है, कोरा निषेधात्मक ही मार्ग नहीं है, अपितु उसका भी अपना कुछ महत्त्व है। अहिंसा का विधायक दृष्टिकोण ही संसार के लिये अधिक शुभकर है और उसे जो लोप करता है वह समूचे विश्व से और अहिंसा से अन्याय करता है।

हिंसा नही करना.—हिंसा करते हुए को रुकवाना, हिंसा रोकने वाले को प्रोत्साहित करना।

रक्षा करनाः—करवाना, प्रोत्साहित करना यह सब अहिंसा के ही रूप है।

यही है अहिंसा का विराट् दर्शनः क्योंकि हिंसा जैसे

अनेकों प्रकार की होती है उसी प्रकार अहिंसा भी अनेकों प्रकार की। हिंसा जिस मार्ग से घुसेगी, अहिंसा उसका उसी प्रकार प्रतिकार करेगी। हिंसा की शक्ति से अहिंसा की शक्ति अनन्तगुणा अधिक है। हिंसा ने तो मानव को पापी, शैतान, नीच, दुष्ट ही बनाया। किन्तु अहिंसा ने इन्सान को मानवी चोले में भगवान का पद दिया. अहिंसा भगवती है जो समस्त विश्व के प्राणियों पर ममत्व स्थापित किये विना प्रकट ही नहीं हो सकती। वस सब की दया करो, रक्षा करो, पशुवध रोको. इसीमें ही अहिंसा का विधायक मार्ग है। श्रमण भगवान महावीर इसी प्रकार की विधायक अहिंसा को सच्ची अहिंसा मानते थे, अत: जैन शास्त्र प्रश्न व्याकरण सूत्र के सवर द्वार में भगवान महावीर ने त्रसस्थावर क्षेमकरी भावना को अहिंसा कहा—और तदनुरूप आचरण को ही अहिंसा को सर्वश्रेष्ट मार्ग माना है। समस्त जीवों का कुशल क्षेम चाहना यह बहुत बड़ी भावना है। कुशल क्षेम की भावना में जो अनुराग और करुणा का निर्झर बह रहा है तथा प्रेमकी वंशी बज रही है, वह ही मुक्ति का सच्चा शाश्वत आनन्द है।

सभी जीवों की अहिंसा को मनीषियोंने इस प्रकार विभाजित किया है।

समस्त प्राणियों के प्रति मित्रता.

गुणियों के प्रति प्रमोद,

दु:खी आर्त जीवों के प्रति करुणा,

और विपरीत वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ वृति रखना अहिंसा है। अहिंसा का अर्थ है प्रेम करना, आदरवान बनना तथा निष्ठा को सजग और प्राणवान बनना तथा सत्य की सर्वोच्च सत्ता का पूर्ण विश्वास करना।

———

: आत्मवाद :

ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तकों का महान आविष्कार "आत्मवाद" आत्मज्ञान धर्म का विश्व को दिया हुआ पवित्रतम वरदान है।

पश्चिम भूतकाल से लेकर आजतक बुद्धि और तर्क पर विश्वास करता आया है, किन्तु एशिया के धर्मों ने सत्यं, शिव और सुन्दरमय अतर्क्य आत्मा पर विश्वास किया है।

विज्ञान चाहे भौतिक उन्नतियों से विश्व को विस्मय में डाल दे किन्तु यह एक कटु सत्य है कि भौतिक आविष्कारों ने मानव की महानता को तिरोहित ही किया है। मनुष्य के प्यार और पुरुषार्थ पर विज्ञान ने वस्तु का वर्चस्व लाद दिया है। आत्मा पदाक्रान्त और दलित कर दी गई है, आविष्कार और भौतिक विजय आज मानव के स्वार्थ और अहंकार का पोषण कर रहे हैं। विज्ञान के सहारे मानव विश्व की विध्वंस लीला का नाटक करने जा रहा है। इन्सानों! वायु में उड़कर ही तुम भौतिक विज्ञान के चमत्कारों में उलझ गये हो।

क्या गंदगी में पलने वाली मक्खी हवा में नहीं उड़ सकती, क्या मच्छर वायुयानों से कम है! जो पंख पसार कर वायु में पद प्रचलन करते हैं।

केवल बाह्य वस्तुओं के रंग में मत उलझो, जरा विचार करो। हीरा कीमती होता है, सभी पत्थर धातुओंसे और फिर कोहेनूर हीरा।

हीरे की परख बिना प्रकाश के नहीं हो सकती, प्रकाश के होने पर भी नेत्रों के बिना वह परीक्षा और भी असम्भव है। और फिर यदि आत्मा मूर्च्छित हो अथवा मनुष्य मुर्दा हो तो क्या हीरे की कीमत है उसके लिये—कहिये हीरा बड़ा या हीरे की पारखी।

आत्मा द्रष्टा है, श्रोता है अनुभवकर्ता और ज्ञाता है, यद्यपि आत्मदर्शन के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान, अहमस्मि मैं हूं का साक्षात्-कार चाहिये।

पश्चिम के तार्किक, एलोपैथी के डाक्टर व भौतिक विज्ञान के अटल विश्वासी केवल इस बातका उत्तर तक नहीं दे सकते कि मनुष्य मरता है, किन्तु क्या मरता है, मनुष्य सोता है—क्या सोता है। अभी अभी इसी युग में स्टालिन की मृत्यु ने भौतिकवादियों को एक गहरा धक्का लगाया है क्योंकि वे अपने विज्ञान और औषधियों पर विश्वास करते थे कि स्टालिन को मरने नहीं दिया जायगा।

रूजवेल्ट, विण्डल विल्की की मौत दिमाग की नाड़ी फटने से हो गई किन्तु उसे कोई जिन्दा नहीं रख सका। शरीर के रहते हुए क्यों मर गया इसका उत्तर आज तक भौतिकवादियों के पास नहीं है।

पूर्व और पश्चिम के धर्म और दर्शन में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि पूर्व आत्म-ज्ञान और दिव्य दर्शन पर विश्वास करता है—भौतिक समृद्धि पर अध्यात्म व त्याग की प्रतिष्ठा करता है। पूर्व भोग पर त्याग की विजय में विश्वास करता है और पश्चिम त्याग व श्रम पर भोग की महत्वाकाक्षा लेकर आगे बढ़ता है।

पश्चिम ने जीवन की सफलता बाहरी सभ्यता, औचित्य और शिष्टाचार पालन और लोक मतानुसरण में ही मानी है। इसीलिये उनमें सामाजिक संगठन और राष्ट्रीय कार्य शक्ति की क्षमता प्राणवान रही है। पश्चिम के जीवन दर्शन में लोकेषणा का अधिकतम महत्त्व रहा है, किन्तु आत्मवादी महामानवों ने जो सेवा, दया प्रेम और भ्रातृत्व की धाराएं प्रवाहित की है, वास्तव में विश्व की वे ही सबसे बड़ी अमूल्य निधि हैं।

कार्ल मार्क्स—जब वस्तुओं को चैतन्य सत्ता पर सिंहासनासीन करता है—और कहता है कि मानव का चैतन्य वस्तु सापेक्ष तथा पराधीन है, उस समय वह वस्तु के उपभोक्ता, अनुभवकर्ता आत्मा के महत्त्व को भूल जाता है।

शरीर और आत्मा में बड़ा कौन ? शरीर के बिना बड़ा—आत्मा एक मिनट भी ठहर नहीं सकती। कसाई पशु का शरीर काटता है गर्दन की दो तीन स्नायु काटता है—पशु क्यों मर जाता है ! पशु तो आत्मवान् है, आत्मा शरीर के कटते ही क्यों भाग जाती है, इन दोनों में बड़ा कौन हो सकता है कि शरीर

को आत्मा के आश्रय के नाते बड़ा कह दिया जाय, किन्तु आत्मा के जीते ही शरीर को जलाया या दफनाया क्यों नहीं जाता है, जब कि शरीर बड़ा है? कहना होगा शरीर से अलग इन्द्रियों से दूर मन को अपना प्रकाश देने वाला आत्मा स्वयं-सिद्ध है। मनुष्य में आत्मा—आत्मा सर्वत्र प्राणियों में व्याप्त है। आत्मा का लक्षण उपयोग और पराक्रम है। विवेक और समाधि से साधना और योग निरोध से उसका साक्षात्कार होता है। मेरा पूण विश्वास है कि आत्मवाद के बिना सार्व-भौम मानव कभी नही बन सकता, विश्व बन्धुत्व और आत्मी-यता का दर्शन आत्म-विश्वास के अभाव में कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता, एक दिन था जब पश्चिम भारत की ओर आत्म-ज्ञान के लिये आतुरता से देखता था और आज तो भौतिक विजयों के कारण भारत स्वयं पश्चिम का अन्धानु-करण कर रहा है।

—— ——

: श्री कृष्ण :

अनासक्त योग चरित्र-निर्माण की पहली शर्त है।

जीवन के चारों ओर द्वन्द्व है, मन का लोक तो पारस्परिक द्वन्द्व, विरोध तथा परस्पर की स्पर्धा से उमड रहे मानसिक आरोपों से व्याप्त है—वासना और विवेक, विकार, विचार, क्रोध, शान्ति, विषय-विरक्ति, त्याग, भोग, लोभ, सन्तोष, पुरुषार्थ और अनियति तथा ज्ञान और कर्म ये ही द्वन्द्व है जिससे मन-समुद्र में ज्वार भाटे की उतार-चढ़ाव आया करता है।

इन्सानों ! जब इन द्वन्द्वों से उन्मुक्त निर्ग्रन्थ, शाश्वत, सत्य की ओर उन्मुक्त होओगे तभी तुम कृष्ण के अनासक्त योग के रहस्य को पा सकोगे।

कृष्ण भारतीय संस्कृतिके उन महापुरुषोंमेंसे एक हैं जिनपर समूची आर्य संस्कृति ज्वाज्वल्यमान हो उठी है। वे हैं राम, कृष्ण महावीर और बुद्ध। कृष्ण संस्कृति के निर्माताओं, राष्ट्र के भाग्य विधाताओं और इतिहास-प्रणेताओं में एक क्रान्तिकारी पुरुष के रूप में अवतरित हुए हैं, उनके जीवन के अनेक रूप हैं। उन्होंने समाज के एक ही अंग को नहीं, किन्तु समस्त अंग को स्पर्श किया है। कृष्णका व्यक्तित्व इतिहास, वाङ्मय, परिवार, समाज साम्राज्य, युद्धनीति—सभी में सम्पूर्ण रूप में व्याप्त रहा है।

भारत में वह पहला पुरुष पैदा हुआ, जिसने विस्मार्क की तरह किन्तु विस्मार्क से पहिले समुद्र से लेकर सौराष्ट्र तक समस्त राज्यों को विजय करके एक महा साम्राज्य स्थापित किया और युधिष्ठिर को सम्राट् घोषित किया।

व्यक्ति के रूप में सन्धि दूत से लेकर सारथी तक, सलाहकार से लेकर परम पूज्य भगवान तक, सान्दीपनि आश्रम अवन्ती के विद्यार्थी से लेकर अध्यात्म आचार्य तक के समस्त पदों में अधिष्ठित रहे हैं।

कृष्ण का चौमुखी व्यक्तित्व योगी और भोगी के रूप में इस प्रकार लिपटा हुआ है, उसे अनेकान्तके सिवाय समझा ही नहीं जा सकता। यदि उनके जीवन की विसगतियों को उधृत करना प्रारंभ कर दे तो उसका पार नही रहेगा।

युद्ध से पहिले वे प्रण करते हैं कि शस्त्र ग्रहण नही किया जायगा और भीष्म पर वे ही स्वयं रथ के पहिये को ही सुदर्शन चक्र वना कर प्रहार करने को तैयार हो जाते है।

युद्ध का नियम है शत्रु को फसने पर उसे अपने को संभालने का अवसर दिया जाना चाहिये—कर्ण का पहिया कीचड़ मे फंस जाता है —अर्जुन प्रहार वन्द कर देते हैं—कृष्ण उन्हें आक्रमण करने की सलाह देते है, गीता में वे ज्ञान को श्रेष्ठ प्रमाणित करते हैं और अर्जुन को कर्म करने का आदेश देते है। कौरवो को संधि-सदेश सुनाते हैं। पाण्डवों को युद्ध की अनिवार्यता प्रगट करते हैं।

यदि हम केवल विसंगतियों को भी देखते चले जायं तो हमें मालूम होगा कृष्ण का समूचा जीवन विसंगतियों से भरा पड़ा है। किन्तु विसंगतियों में संगती देखने का मार्ग ही तो अनासक्त योग देता है। आपको जीवन में सुसंगति लाना है तो विरोधों और द्वन्द्वों की सीमाओं से ऊपर उठ कर उस अविरोध का दर्शन करना होगा, जो गीता तुम्हारे सामने उपस्थित कर रही है।

और वह है कि सिद्धान्तोंसे विचार—अपना जीवन-निर्माण करते हैं और विचार आचार के रूप में समाज को धारण पोषण। जितना द्वन्द्व है यह सब विचारों में है, इच्छाओं में है, संवेदनों और अनुभूतियों में है, किन्तु विरोध आपको तभीतक दीखता है जब आप उसमें आसक्त हैं।

आसक्तिहीन अविवेकी पुरुष पुरुषार्थ और योग में गुजरता हुआ भी आनन्द को ही प्राप्त करता है, अनासक्त योगी पुरुष न तो संसार से घृणा करता है और न ही जगत् से लिपटता है। वह तो उस कमल की तरह अपनी जिन्दगी बसर करता है जो पानी और कीचड़ में पैदा होकर भी कीचड़ से दूर और पानी से ऊपर अपनी पंखुड़ियें पसारता है और उन्मुक्त शाश्वत आनन्द की, सत्य की नशा शील की प्राप्ति करता है।

अन्त में मुनिश्री ने कहा कि राष्ट्रीय एकता के प्रति महाभारत युद्ध के सारथी, गीता के अध्यात्म ज्ञान के

आत्म-द्रष्टा कृष्ण ज्ञान कर्म के समन्वय द्वारा जो आपको अना-सक्त योग की शिक्षा दे गये हैं; उसे जीवन में उतारिये और मानसिक विस्तार की भावना द्वारा सद् विचारों का सदा भोजन करिये।

———

: मानवता का मोल :

ग्रीस के तत्व चिन्तकों से लेकर आजतक की समग्र चिन्तन धाराएं मानवता के पग निरखती आई हैं। समूचा काव्य, साहित्य, विधान, धर्म और दर्शन मानवता के विकास के लिये प्रयत्नशील रहा है। मानवता कोहनूर हीरे के मोल से अनंत गुणा अधिक कीमती है, किन्तु मानव मानवता का अपमान करता आया है।

विषय, वासना, निन्दा, चुगली, अविश्वास तथा अनैतिक भ्रष्टाचारों में उसे पतित करता आया है, आज जब हम स्वर्ग से भी अधिक आकर्षक इस मर्त्य लोक के मानवों की ओर देखते हैं तो सहसा ध्यान आ जाता है कि मानव जी रहा है और मानवता मर रही है, यह क्या संसार में विसंगति है।

मनुष्य ने अपनी परमात्मीय सम्पत्ति—मनन को तिलाञ्जलि दे दी है, वह पैदमाला भौतिक पदार्थों की ओर अन्धाधुन्ध होकर लपकता जा रहा है। आज मनन के स्थान पर मान्यताओं का साम्राज्य है।

चिन्तन के स्थान पर चिन्ता घेरे बैठी है, सभ्यता के स्थान पर सम्पत्ति, जिज्ञासा के स्थान पर लोभ का एकछत्र राज्य कायम हो रहा है।

हमारे इस युग में मानव को धर्म के स्थान पर धन को और मानवता के स्थान पर वैयक्तिक स्वच्छन्दता को प्रतिष्ठित किया है और संसार से शान्ति को शील को और तृप्ति को तृष्णा से मार भगाया है।

मनुष्य शालीनता की ओट में शिकारी बन गया है और व्यापार के बहाने डाका, लूट को धर्म मानने लगा है। यंत्रवाद, अन्ध विश्वास, दोनों इस युग की वस्तु है, किन्तु यन्त्रवाद बुद्धि के राक्षसों और महत्त्वाकांक्षियों की गृद्धदृष्टि का परिणाम है, किन्तु अन्धविश्वास चाहे कितनी भी हानि क्यों न करता हो, किन्तु अन्धविश्वासियों को न्याय के दरबार मे मानवता के एकमात्र शत्रु उद्घोषित नही किये जा सकते।

इन्सानों! प्रभु ने तुम्हें दिव्य दर्शन दिया है, परम शान्ति और पर उन्नति का शाश्वत मार्ग बताया है कि अविद्या को विद्या से दूर करो, साधना से दूर करो। सेवा, दया, प्रेम, रक्षा, भलाई, परोपकार से दूर करो, इन्ही शुद्धाचरणों से मानव को शान्ति प्राप्त होगी, प्रभु मिलेगा।

: तत्त्व चिन्तन :

१—आत्म सम्मान पहला रूप है, जिसमें महानता प्रगट होती है। किसी की दया से पेट पल सकता है, आत्म सम्मान नहीं, जहाँ भी रहो आत्म-सम्मानकी रक्षा के लिये अपनी आवश्यकता पैदा करो।

२—शान्ति की विजय तो होती ही है, किन्तु उसके लिये परीक्षा की लम्बी घड़ियों को पार करना पड़ता है। उस लम्बे मार्ग के बाद शान्ति मिलती ही है।

३—आज संसार को खतरा केवल राजनीतिज्ञों, विधान-शास्त्रियों, समान व्यवस्थापकों और न्याय-देवताओंसे जितना है; उतना कदाचित अणु से बम भी नहीं।

४—इन्सानों को शासन करने दो, राजनीतिज्ञों को वन-वास के लिये विवश कर दो।

५—जगत् का कोई भी बाह्य परिवर्तन मानव को वुद्ध नही बना सकता बरन् उसके अपने संस्कार ही उसके जीवन मोड़ के कारण है।

६—निराशावादी हर अवसरमें कोई न कोई कठिनाई देखता है किन्तु आशावादी हर कठिनाई में अवसर देखता है।

७—मानसिक शान्ति संसार में नहीं, सत्सग में मिलती है। बातों में नहीं अपितु मौन और चिन्तन से प्राप्त होती है।

किसी अज्ञात चिन्तक ने कहा है, तत्त्व का विचार उत्तम है, पुस्तकों का विचार मध्यम है, मंत्रों की साधना अधम है और दुनियां में भटकना अधमाधम है।

तत्व ज्ञान इस विराट् विश्व के समस्त अगणित चिन्तको की ज्ञाननिधि है, जिससे मानव के सामने आलोक विकीर्ण किया है। कर्तव्य का उद्‌बोधन किया है।

किन्तु कोरा तत्त्वज्ञान तर्क अथवा बुद्धि की कसरत ही नही होना चाहिये, उसका कुछ उद्देश्य भी होता है—'ऋते ज्ञानान्नमुक्ति' ज्ञान के विना मुक्ति का पाना असम्भव है। ज्ञान को मुक्ति का उपादेय साधन मानने वालों को ही ज्ञान की कीमत हो सकती है। ठीक तत्त्व-विचारणा का भी साध्य स्वरूपाववोध है।

आत्मा क्या है!

अनात्मा क्या है!

यह विराट् विश्व क्या है!

इसमें शुभ, अशुभ तथा शुद्ध क्या है, बन्धन तथा बन्धनों से विमुक्ति क्या है?

जीव और जड़का सम्बन्ध क्यो कैसे और क्या है।

अन्त में मैं इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि समस्त तत्व-चिन्तन केवल इन तीन शब्दों में छिपा हुआ है—

क्या! क्यों! कैसे!